स्वर्ण जयन्ती प्रकाशन 2013

BIHAR YOGA

ईशावास्योपनिषद्

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती



योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

ईशावास्योपनिषद्



WORLD YOGA CONVENTION 2013

GANGA DARSHAN, MUNGER, BIHAR, INDIA

23rd–27th October 2013

ईशावास्योपनिषद्

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती



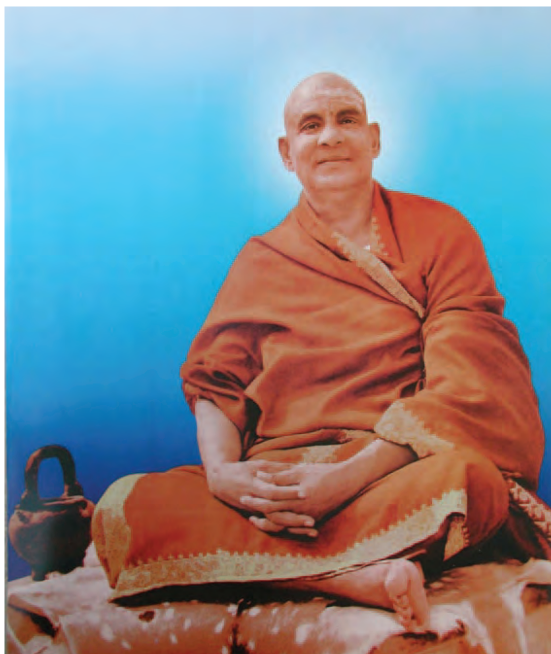
योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

बिहार योग विद्यालय द्वारा प्रथम प्रकाशन 1970
योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट द्वारा द्वितीय संशोधित संस्करण 2013

ISBN: 978-93-81620-70-0

प्रकाशक एवं वितरक–योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट,
मुंगेर, बिहार, भारत
मुद्रक– थॉमसन प्रेस इण्डिया लिमिटेड
नयी दिल्ली

वेबसाइट: www.biharyoga.net
www.rikhiapeeth.net



सविनय समर्पण

स्वामी शिवानन्द सरस्वती के चरणों में
जिन्होंने स्वामी सत्यानन्द सरस्वती को योग के रहस्यों की शिक्षा दी



नमो नारायण

योगविद्या भारतवर्ष की सबसे प्राचीन संस्कृति और जीवन-पद्धति है तथा इसी विद्या के बल पर भारतवासी प्राचीनकाल में सुखी, समृद्ध और स्वस्थ जीवन बिताते थे। जब से भारत में योग विद्या का ह्रास हुआ, तभी से भारतवासी गरीब, दुःखी और अस्वस्थ हैं। पूजा-पाठ, धर्म-कर्म से शान्ति मिलती है और योगाभ्यास से धन-धान्य, समृद्धि और स्वास्थ्य। भारत में सुख, समृद्धि, शक्ति और स्वास्थ्य के लिए हर व्यक्ति को योगाभ्यास करना चाहिए।

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती
रिखियापीठ, 2005

विषय सूची

ईशावास्योपनिषद्

भूमिका

संस्कृत भाषा का यह *'उपनिषद्'* शब्द, मूलतः तीन शब्दों से बना हुआ है – उप+नि+षद्। उप=निकट, नि=जानना, सद्=बैठना, अर्थात् निकट बैठकर जानना। विद्वानों ने अपनी बुद्धि के अनुकूल इसके अनेक अर्थ निकाले हैं। किसी ने गुप्त-विद्या की संज्ञा दी, पर यह सही नहीं है। वस्तुतः जिस ज्ञान को गुरु के चरणों में बैठकर सीखा जाता है, उसे उपनिषद् कहा गया है। प्राचीन काल में गुरु ने शिष्य को परमज्ञान का उपदेश दिया था। इसे केवल सुना गया था, लिखा नहीं गया था। इसीलिये उपनिषद् को श्रुति भी कहते हैं। बाद में इस ज्ञान को सुरक्षित रखने के लिये लिख भी लिया गया।

उपनिषद् की भाषा

यूँ तो कुल एक सौ आठ उपनिषद् मानी जाती हैं, पर उनमें दस प्रमुख हैं और तीस अन्य छोटी हैं। उपनिषदों की भाषा आधुनिक संस्कृत से भिन्न है। उसका व्याकरण भी भिन्न है। उपनिषदों की भाषा वेदों से मिलती-जुलती है। इनकी रचना ईसा के जन्म के कई शताब्दी पूर्व हुई थी। प्रस्तुत ईशावास्योपनिषद् इस क्रम की प्रथम उपनिषद् कही जाती है।

चिन्तन की पराकाष्ठा

उपनिषद् भारतीय विचार-परम्परा का सर्वश्रेष्ठ रत्न और चिंतन की पराकाष्ठा कही जाती है। परम सत्य की खोज में मनुष्य की बुद्धि ने आज तक जितनी भी उड़ानें भरीं, उपनिषद् उनकी चरमसीमा है। सृष्टि की मोहकता उसके

लिये आकर्षण का केन्द्र तो थी ही, स्वयं सृष्टि भी विस्मय का कारण थी। प्राचीनकाल से ही शुद्ध चिंतकों के अंतस्तल को इसने अनेक बार आन्दोलित किया और उन्होंने बार-बार इसके आधारभूत कारणों को जानने की अथक चेष्टाएँ कीं। सत्य को जानने की जिज्ञासा तो मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। जब भी वह फुरसत की घड़ियों में बैठता है, उसके मन में प्रश्नों के लच्छे, स्वयं एक-एक कर खुलने लगते हैं और वह अपने से लेकर चतुर्दिक फैली वस्तुओं को कौतूहलपूर्ण दृष्टि से देखता है। वह जानने की चेष्टा करता है कि आखिर इस रचना का आदि-कारण क्या हो सकता है? वह विचारों की देहरी पर बैठकर उस तत्त्व को जानना चाहता है। वह सोचता है – सृष्टि, जगत्, मनुष्य आदि सभी तो कार्य हैं, इनका कारण क्या हो सकता है? एक ऐसा कारण जिसका कोई कारण न हो? उपनिषद् इसी कारण की खोज है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में ऐसी चर्चा आई है। राजा जनक के दरबार में विद्वानों ने याज्ञवल्क्य से सृष्टि के कारण के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न पूछे थे।

ब्रह्म तत्त्व का चिंतन

उपनिषद् सर्वश्रेष्ठ कही गयी है, क्योंकि इसमें ब्रह्मतत्त्व का चिंतन किया गया है। इस ब्रह्मतत्त्व को ही सृष्टि का मूल-कारण कहा गया है। ब्रह्मतत्त्व उपनिषद् की भावना है। संस्कृत के इस शब्द का अर्थ होता है, जो हमेशा बढ़ता जाए। वेदान्त ने इसी तत्त्व को आत्मा, सांख्य ने पुरुष और भक्तों ने ईश्वर की संज्ञा दी है। अनादिकाल से संसार की अनेक जातियों ने अपने-अपने ढंग से ईश्वर की कल्पना की है। उनकी कल्पना का आधार उनका तत्कालीन बौद्धिक विकास तथा जीवन की परिस्थितियाँ थीं। ईसाइयों ने ईश्वर को एक व्यक्ति के रूप में समझा। सृष्टि के विकास के साथ-साथ ईश्वर की हमारी कल्पना भी जुड़ती गई। कच्छप अवतार से लेकर नृसिंह अवतार तक की सम्भावनाओं की हमने भी कल्पना की। ग्रीक सभ्यता में भी ऐसे ईश्वर की कल्पना की गई है, जिनका आधा शरीर मनुष्य का और आधा पशु का था। ये कल्पनायें गलत नहीं हैं। जितना बड़ा बर्तन होगा, उतना ही तो जल समायेगा।

सत्य का प्रकटीकरण

उपासक अपनी बुद्धि की मर्यादा के अनुकूल अपने उपास्य के रूप की कल्पना करता है और इस क्रम में एक ऐसी स्थिति आती है, जब सत्य का प्रकटीकरण

होने लगता है। चित्त निर्विकार हो जाता है, और निराकार ब्रह्म की कल्पना स्वयं जागती है। कुछ व्यक्ति इस स्वाभाविक अवस्था की प्राप्ति के पूर्व ही ज्ञान की मृगतृष्णा में पड़कर निराकार को ग्रहण करते हैं, पर उसे भी रूप दे बैठते हैं। और कभी ऐसा भी होता है कि निराकार में भटकती हुई चेतना को सहारा देने के लिये, साधक जानबूझ कर साकार का सहारा ले बैठता है। भागवत-पुराण में ऐसा ही एक मार्मिक प्रसंग आया है। श्री व्यासदेव कहते हैं, 'भगवान! तुम निराकार तो हो, पर हमने तुम्हारे रूप की कल्पना की। तुम सर्वव्यापक हो पर हमने तीर्थ की कल्पना कर तुम्हें एकदेशीय बना दिया। तुम वाणी के परे हो, पर हमने तुम्हारी स्तुति कर तुम्हें वाणी का विषय बना दिया। हम सत्य को जानते तो हैं, किन्तु अपने भाव के कारण, अपनी निर्बलता के कारण, आपको जानने के लिये, आपके निकट पहुँचने के लिये, ये तीन अपराध किये हैं, क्षमा करना।'

उपनिषद् और साकार उपासना

इसी सिलसिले में वेदों ने एक अन्य ही ढंग से कल्पना की है। इनके विचार किसी मत के विरोधी नहीं हैं, केवल सोचने का ढंग अलग है। वेद ने ब्रह्म को किसी व्यक्ति के रूप में नहीं, बल्कि परम सत्ता के रूप में स्वीकार किया है। उपनिषद् तो चिंतन करते-करते एक स्थान पर रुक जाती हैं, और कहती हैं – *'नेति नेति'*। सत्य की मर्यादा भी तो यही है। यदि उसे पूर्ण रूप से जान लिया गया, समझ लिया गया तो वह अज्ञेय, असीम और अनन्त कैसे रहा? उपनिषद् का साकार उपासना से कोई विभेद नहीं है। जब तक मानव-मस्तिष्क अपनी मर्यादाओं के भीतर सीमित रहता है, जीवन की परिस्थितियों से प्रभावित होता रहता है, तब तक वेदान्त के साथ-साथ भक्ति का भी समावेश आवश्यक होता है। जब तक वृत्तियों की चंचलता समाप्त न हो जाए तथा अंत:पुरुष का प्रकटीकरण न हो जाए, तब तक अपनी उपासना तो कायम रखनी ही चाहिये।

विचार–क्रान्ति

उपनिषद् भारतीय विचार-पद्धति में एक क्रान्ति का सूत्रपात करती है। एक युग था, जब कर्मकाण्डों को ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। लोग इन्द्र, वरुण, वसु, मातरिश्वा, आदि अनेक देवी-देवताओं की पूजा करते थे। इनकी विधि भी इतनी जटिल हो गई थी कि बिना पुरोहित के यह संभव था ही नहीं। भगवान

मनुष्य की पहुँच के बाहर की बात बनकर रह गये थे। साधारण लोग मूल-सत्य को भूल गये थे। सभी अपना-अपना राग अलापते थे। समाज के तीन वर्ण – क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने धंधे में ही इतने लीन थे कि उन्हें चिंतन का मौका ही नहीं था। समाज में केवल ब्राह्मण चिंतन करता था। कुछ ऐसे ही समय एक आध्यात्मिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। समाज के कुछ विद्वानों ने सोचा कि क्या मोक्ष केवल ब्राह्मणों के ही एकाधिकार की वस्तु बनकर रह जाएगा? क्या सत्य की खोज का माध्यम केवल ब्राह्मण ही हो सकते हैं?

सबसे पहले क्षत्रियों ने इस कार्य को अपने हाथ में लिया। तपोवनों का निर्माण हुआ। आश्रमों की स्थापना हुई। गुरु-परम्परा चल पड़ी, जैसा कि हमें छान्दोग्य, बृहदारण्यक आदि उपनिषदों में वर्णन मिलता है।

ब्रह्मविद्या गुरु परम्परा

जिन लोगों ने इस विचार-क्रान्ति का सूत्रपात किया, वे पूर्णरूप से सही मायने में संन्यासी नहीं थे। उन्होंने तो ज्ञान की पिपासा में अपने परिवार को छोड़कर, संन्यास-वृत्ति ग्रहण की थी। तपोवन में बैठकर चिंतन किया। उन्होंने जगत्, जीवन, जन्म-मरण, पुनर्जन्म आदि के आधारभूत कारणों को जानने का प्रयत्न किया और उन्हें उत्तर भी मिला। इसीलिये उन्हें ऋषि कहा गया। बाद में उन्होंने समाज के कुछ योग्य लोगों के उत्कर्ष के लिये उन्हें यह ज्ञान दिया। इस तरह शिष्यत्व की परम्परा जगी। गुरु ने अपने शिष्य को, फिर उन्होंने अपने शिष्य को, सत्य का उपदेश दिया। ये शिक्षक ही ब्रह्मविद्या के गुरु कहलाये और एक परम्परा का प्रारम्भ हुआ। समय-समय पर इसमें अनुभवों का संचय होता गया।

वेद का अंग

उपनिषदों के आधार वेद ही कहे जा सकते हैं। वेदों के क्रमश: चार अंग हैं – संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्।

संहिता में प्राय: उन मंत्रों का संकलन है, जो कर्मकाण्ड, उपासना, देवपूजा आदि से सम्बन्धित हैं।

ब्राह्मण में गृहस्थ-धर्मोचित कार्यक्रम, जैसे विवाह, उपनयन, आदि से सम्बन्धित विषयों का उल्लेख है। इसके भी दो भाग हुए – ऐतरेय और शतपथ।

आरण्यक में वानप्रस्थ आश्रम की मर्यादाओं तथा उसके अनुकूल धर्म-कर्म एवं उपासना पद्धति का वर्णन है।

उपनिषद् की रचना

उपनिषद्कारों ने इसकी रचना में बड़ी सतर्कता बरती। ऐसा न हो कि सम्पूर्ण समाज एक साथ ही विचार-क्रान्ति की लपटों में पड़ जाए और जन-जीवन अस्त-व्यस्त हो जाए। उपनिषदों के अद्वैत सिद्धान्त में कर्मकाण्ड के देवी-देवताओं का कोई स्थान नहीं था, इसलिये इसे गोपनीय रखा गया। यह लिखा भी नहीं गया, केवल सोचा और सुना गया। उपनिषदों के लेखक का हमें पता तक नहीं। यह केवल गुरु-शिष्य परम्परा पर ही आधारित है।

यद्यपि इस क्रान्ति का सूत्रपात पर्वत-कन्दराओं, तपोवनों और आश्रमों में हुआ, फिर भी इसकी लपटों की उष्णता समाज तक पहुँचकर ही रही। समाज का ब्राह्मण चकित हो गया। क्या जगत् का कारण एक है? क्या सत्य एक है जो सब जगह समान है? उन्होंने भी इसकी खोज प्रारम्भ की। हम देखते हैं कि ब्राह्मण याज्ञवल्क्य काशी के क्षत्रिय राजा अजातशत्रु के यहाँ तर्क करने जाते थे और मिथिला के राजा जनक के दरबार में तो जिज्ञासु ब्राह्मणों की गोष्ठियाँ ही जमी रहती थीं।

पहली उपनिषद्

प्रस्तुत ईशावास्योपनिषद् शुक्ल-यजुर्वेद की संहिता है। उत्तर भारत में काश्मीर से गुजरात और महाराष्ट्र तक शुक्ल-यजुर्वेद की प्रथा है और दक्षिण भारत में कृष्ण-यजुर्वेद की। ईशावास्योपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद, काण्वशाखीय संहिता का चालीसवाँ अध्याय है। शुक्ल-यजुर्वेद के पूर्व उनचालीस अध्यायों में कर्मकाण्ड का निरूपण हुआ है। यह सबसे पहली उपनिषद् मानी जाती है।

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

अन्वय एवं शब्दार्थ

ॐ = प्रणव, *पूर्णम्* = पूर्ण है, *अदः* = वह ब्रह्म, *पूर्णम्* = पूर्ण ही है, *इदम्* = यह ब्रह्म, *पूर्णात्* = उस पूर्ण से ही, *पूर्णम्* = यह पूर्ण, *उदच्यते* = उत्पन्न हुआ है, *पूर्णस्य* = पूर्ण से, *पूर्णम्* = पूर्ण को, *आदाय* = निकाल लेने पर भी, *पूर्णम्* = पूर्ण, *एव* = ही, *अवशिष्यते* = बचा रहता है।

प्रार्थना और संकल्प में भेद

वेद में दस शान्ति-पाठ आये हैं। इनके द्वारा हमलोगों के मन में शुद्ध भावना भरने के लिये उस परम पुरुष के प्रति संकल्प किया गया है। प्रार्थना और संकल्प में अन्तर है। जबकि प्रार्थना के द्वारा कुछ प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है तो दूसरी ओर शान्ति-पाठ के माध्यम से मात्र संकल्प किया जाता है। विश्व के अधिकतर धर्मों में उस परम पुरुष से कुछ-न-कुछ माँगा गया है, किन्तु शान्ति-पाठ के दसों श्लोकों में माँगा कुछ भी नहीं गया है। केवल कहा गया है – ऐसा हो, वैसा हो!

भारतीय दर्शन का बीजमंत्र

प्रस्तुत शान्ति-पाठ बृहदारण्यक उपनिषद् से लिया गया है। यह भारतीय दर्शन का बीज-मंत्र है। सम्पूर्ण भारतीय दर्शन इसी मंत्र की व्याख्या कही जा सकती है। हम चाहे जिस दर्शन को लें – वेदान्त, योग, न्याय या वैशेषिक, हम देखेंगे कि सब में उसी पूर्ण की व्याख्या की चेष्टा की गई है।

यह सृष्टि जो हमें दृष्टिगोचर होती है, इसके पीछे कोई सत्ता है, जो पूर्ण है। वह सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है। उस पूर्ण से जो सृष्टि हुई तो उसकी पूर्णता में कोई कमी नहीं आई। वह पूर्ण ही रह गया, क्योंकि यदि पूर्ण से पूर्ण को निकाल लिया जाता है, तो भी वह पूर्ण ही रह जाता है।

'पूर्ण' शब्द भारतीय दर्शन में ऐसी वस्तु के लिये आता है, जो अपूर्ण नहीं है; जो देश, काल, परिस्थिति से प्रभावित न हो; जिसे कोई रोग या शोक न हो, और जिसका अन्त भी न हो; जो साकार, निराकार और सर्वाकार हो; जो त्रिकाल सत्य, असीम और परम-चैतन्य हो।

पूर्ण सत्य है

जगद्गुरु आदिशंकराचार्य ने पूर्ण की व्याख्या करते हुए लिखा है कि पूर्ण सत्य है, केवल सत्य है, और सत्य के सिवाय और कुछ नहीं है। यह आँखों से देखा नहीं जा सकता, और इन्द्रियों के अनुभव से परे है। केवल ध्यान और समाधि की अवस्था में ही इसका आभास होता है।

सृष्टि पूर्ण है

अब हम सृष्टि को लें। प्रश्न उठता है कि सृष्टि में ईश्वर है या सृष्टि ईश्वरमय है? एक यह भी प्रश्न उठ सकता है कि समुद्र में जल है या समुद्र जल में है? यदि समुद्र में जल है तो समुद्र की प्रधानता हुई, पर यदि समुद्र जलमय है तो जल की प्रधानता हुई। यदि हम यह मानें कि सृष्टि में ईश्वर है तो इसका अर्थ हुआ कि सृष्टि कुछ और है, और ईश्वर कुछ और। यदि यह कहा जाए कि सृष्टि ईश्वरमय है तो इसका अर्थ हुआ कि सृष्टि और ईश्वर दोनों एक-दूसरे से अभिन्न हैं। उदाहरण के लिये हम मिट्टी के घड़े को लें। मिट्टी को रूप और नाम मिल जाता है तो वह घड़ा बन जाता है, लेकिन उससे यदि हम नाम और रूप को निकाल देते हैं तो उसका मूलतत्त्व केवल मिट्टी रह जाती है। ठीक उसी तरह यदि सृष्टि से हम रूप और नाम को निकाल देते हैं तो जो बच गया वही ब्रह्म हुआ।

गोचर सृष्टि भी ब्रह्मशक्ति का अंश

जो सृष्टि हम देखते हैं, वह ब्रह्मशक्ति का एक छोटा-सा अंश है। महाभारत में एक जगह कहा गया है – *'हरिः एव जगत्, जगत् एव हरिः'* अर्थात् सृष्टि

और ईश्वर में किसी प्रकार का भेद नहीं है। अव्यक्त सत्ता भी पूर्ण ही है और जो उसकी लीला दिखाई देती है, वह भी पूर्ण है, क्योंकि यह सृष्टि भी तो उसी से निकली है।

सर्वत्र सर्वव्यापक चेतना फैली है, और इसकी थोड़ी-सी शक्ति कहीं पदार्थ का रूप ग्रहण करती है। आधुनिक विज्ञान की मान्यताओं के अनुसार भी शक्ति और पदार्थ में मूलत: कोई भेद नहीं है।

सृष्टि – पूर्णता का अभिव्यक्तिकरण

जिस सृष्टि को हम देखते हैं, वह पूर्ण का मात्र अभिव्यक्तिकरण है। उदाहरणार्थ, यदि किसी भी स्थान से समुद्र के जल का स्वाद लिया जाए तो वह नमकीन ही मिलेगा। यह इसलिये कि समुद्र का मूलतत्त्व समग्र और एक-सा है। उसी प्रकार जब परमशक्ति अपने को व्यक्त करती है तो उस दशा में भी वह अपने मूल गुण को नहीं छोड़ती। यदि हम थोड़ी देर के लिये मान लें कि यह सृष्टि परमात्मा का अभिव्यक्तिकरण नहीं है, बल्कि उन्होंने इसे अलग से बनाया है, तो पुन: प्रश्न उठता है कि सृष्टि के इतने पदार्थ वे कहाँ से लाये? क्या कहीं से उधार लिया? यहीं से द्वैतवाद का प्रारम्भ होता है। पर सच तो यह है कि संपूर्ण सृष्टि ही परमात्मा का अभिव्यक्तिकरण है।

पूर्ण सदैव पूर्ण है

जब दो सत्य एक साथ मिलते हैं, तो वे दोनों मिलकर एक हो जाते हैं, दो नहीं रहते। यदि दो पूर्ण मिलकर दो पूर्णता का निर्माण करते तो दोनों पूर्ण कहे ही नहीं जा सकते हैं। दो सत्ताएँ एक साथ नहीं रह सकती हैं। यदि हम असीम में कुछ जोड़ते हैं या निकालते हैं, तब भी वह असीम ही रह जाता है। उसकी पूर्णता में कोई परिवर्तन नहीं होता। इसलिये भारतीय दर्शन में ब्रह्म को पूर्ण कहा गया है।

इस मंत्र में तीन बार शान्ति का उच्चारण करके, आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक शान्ति की कामना की गयी है।

प्रथम मंत्र

ॐ ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥1॥

अन्वय एवं शब्दार्थ

ईशा=ईश्वर से, *वास्यम्*=व्याप्त है, *इदम्*=यह, *सर्वम्*=समस्त, *यत्किंच*= जो कुछ भी, *जगत्याम्*=अखिल ब्रह्मांड में, *जगत्*=जो चलायमान है, *तेन*= उसको, *त्यक्तेन*= त्यागपूर्वक, *भुञ्जीथाः*= भोगते रहो, *मा*= नहीं, *गृधः*= (गृध के जैसा) आसक्त, *कस्य स्विद्*= किसका है, *धनम्*= भोग्य पदार्थ।

अनुवाद

सम्पूर्ण विश्व ईश्वर से परिपूर्ण है। इसलिये अनासक्त भाव से ईश्वर की भावना को रखते हुये संसार का भोग करें, पर किसी दूसरे के भोग्य पदार्थों के प्रति लोलुपता अपने मन में नहीं आने दें।

व्याख्या

इस मंत्र में सम्पूर्ण जगत् के एक शासक की कल्पना की गई है। यद्यपि 'ईशा' शब्द का अर्थ यहाँ ईश्वर से लगाया गया है, पर स्वयं यह शब्द ईश् धातु से बना है, जिसका अर्थ है शासन करना। शासन करने का भाव ही ईश्वर शब्द में व्यक्त हुआ है।

शासन नियम या विधान को कहते हैं। अखिल ब्रह्माण्ड में एक शक्ति सतत् कर्मशील है, जिसमें सृष्टि के तत्त्वों को नियंत्रित करने की अनुपम क्षमता है। वह परम शक्ति जगत् के सारे कर्मों पर नियमपूर्वक शासन करती है, चाहे जन्म हो या मृत्यु। आध्यात्मिक, मानसिक, दैहिक, स्थावर या जंगम सभी इसी के अधीन हैं।

अब प्रश्न उठता है कि इस सत्ता की कल्पना कैसे की जाय? संसार के प्रत्येक धर्म ने अपने ढंग से सोचने का प्रयत्न किया है। अनेकों धर्मों ने राजा या शक्तिशाली व्यक्ति के रूप में इस सत्ता को माना। वेद व्यक्ति के रूप में नहीं, बल्कि शक्ति के रूप में इस सत्ता को ग्रहण करता है। कल्पना कोई गलत नहीं है, पर वह मानसिक विकास पर ही तो आधारित है। इसी समन्वयवादी विचार को लेकर जैन मत का स्यात्वाद आता है, जो कहता है यह भी हो सकता है और वह भी। सत्य को हम चाहे जिस दृष्टिकोण से देखेंगे, वह उस सत्य का तो एक ही दृष्टिकोण होगा। जो सत्य को जानता है वह भी तो यही कहेगा कि उसने सत्य को पूरा नहीं जाना। सत्य ज्ञातव्य है, पर ज्ञेय नहीं। वह जाना जा सकता है, पर जाना हुआ नहीं है।

अगला प्रश्न उठता है कि आखिर इस जगत् का शासन कौन करता है? वह कहाँ रहता है?

सृष्टि के कण-कण में परमचेतन की शासकीय सत्ता व्याप्त है। बस सत्ता किसी खास एक जगह बैठकर नियंत्रण नहीं करती, बल्कि वह सब जगह समान रूप से व्याप्त रहकर शासन करती है। यूँ तो उपासक अपनी बुद्धि की मर्यादा के अनुकूल अपने उपास्य का एक रूप सिद्ध भी करते हैं और घोषित भी, पर जब सत्य का उद्घाटन किया जाता है तो कहा जाता है कि सृष्टि का प्रत्येक अणु, जड़ या चेतन, ईश्वर के द्वारा व्याप्त है। व्यक्त जगत् चेतन शक्ति से अलग नहीं है। इसके निमित्त और उपादान, दोनों कारण ईश्वर है। यह उसी की अभिव्यक्ति है। उसने इसे उत्पन्न नहीं किया, वह स्वयं इसका मूल तत्त्व है। यदि इस सृष्टि से उस मूल तत्त्व को निकाल लिया जाय तो शेष कुछ भी नहीं बचा रहेगा।

एक ही तत्त्व अपने को, अनेक रूपों में प्रकट करता है, जो हमें दिखलाई देता है। वह भी इसलिये कि एक और कारण है, जिसे उपनिषद् में माया और सांख्य में प्रकृति के रूप में प्रतिपादित किया गया है। यह परमतत्त्व ब्रह्म की अभिन्न शक्ति है, जैसे अग्नि में दाहकता, और जल में तरलता। इसी अभिव्यक्ति की शक्ति को माया कहते हैं। इसी माया के द्वारा वह अनेक रूपों को प्राप्त करता है। यह चेतन तत्त्व किसी माध्यम के द्वारा हमारे सामने जगत् के रूप में दिखायी देता है। भगवान का हमने जो निवास-स्थान बनाकर रखा है, वही सत्य नहीं है। वह असत्य भी नहीं है। जब वह सर्वव्यापी है तो वह भी सत्य ही है। भावावेश में आकर हम एक को छोड़कर

दूसरे को पकड़ तो लेते हैं पर वास्तव में सम्पूर्ण विश्व उसी परम चेतना से प्रभासित है।

संसार में दो प्रकार के सत्य हैं, एक तो वह जो मूलतत्त्व के रूप में विद्यमान है और दूसरा उसका व्यक्त रूप, जो हमें आँखों से दृष्टिगोचर होता है। पर इसके पीछे भी चेतना का सतत् प्रवाह है, जो हमेशा एक-सा रहता है। यूं तो जगत् का अर्थ ही है – *'यत् गच्छति तत् जगत:'* पर मूल चेतना समभाव से स्थिर है। जीवन-चेतना जो विकास के मार्ग में निरन्तर बढ़ रही है, वह भी वही है। केवल रूप और नाम, जिसके योग को माया की संज्ञा दी जाती है, वे बदलते हैं। प्रकृति नाम और रूप है तथा ब्रह्म नाम और रूप के द्वारा प्रकट होता है।

जब साधक ध्यान के द्वारा अपनी चेतना को अंतर्मुख करता है तो प्रकृति और पुरुष का अलगाव होता है। यह सत्य स्थिति है। चेतन के अन्दर बैठकर चेतन का अध्ययन होता है। साधक अपने चारों ओर अदृश्य चेतना की अनुभूति करता है। संसार की परिवर्तनशील वस्तुएँ भले ही असार या छाया की तरह मिथ्या दीख पड़ें, पर उसका भी आधार सत्य ही है। छाया मिथ्या हो सकती है पर उसका आधार नहीं। भ्रान्ति भी सत्य पर ही आधारित रहती है। भक्तों ने तो सम्पूर्ण संसार को सच्चिदानन्द-स्वरूप देखा है। पर जो ज्ञान शून्य है, उसे जगत् शून्य ही दीख पड़ेगा। जीव और जगत् में आत्मा वैसे ही व्याप्त है, जैसे नमक में नमकीनपना। यह व्यापकता दृष्टिगोचर नहीं होती, यह छिपी वस्तु है। इसे प्रकट करना पड़ता है, जैसे काष्ठ से अग्नि।

जब यह अनुभव होता है कि सम्पूर्ण जगत् में एक सत्ता व्याप्त है तो एकता की अनुभूति होती है। आत्मा की शक्ति की अनुभूति होती है। और यहीं से त्याग प्रारम्भ होता है। त्याग दूसरों के लिये नहीं होता, वह तो अपने ही लिये है। साधारणतया लोग विषयों के भोग को ही भोग कहते हैं, पर यह ठीक नहीं है, बल्कि इन्द्रियों के स्वाभाविक गुण या धर्म को भोग कहा जा सकता है। खाना, सोना, देखना आदि सभी भोग ही है। जिसने भी जन्म लिया है, वह विषयों का भोग करेगा ही। यह इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है।

भोग दो प्रकार के होते हैं, एक सकाम या रागपूर्ण और दूसरा निष्काम या विरागपूर्ण। रागपूर्ण भोग वह है, जो व्यक्ति के निजी स्वार्थ के लिये होता है। तथा विरागपूर्ण भोग समष्टि के लिये होता है। रागपूर्ण भोग में व्यक्ति संसार की वस्तुओं को अपने एकाधिकार में लाने की चेष्टा करता है। यही भोग कष्ट

का कारण होता है। पर जिसे आत्मा की सर्वव्यापकता का अनुभव हो जाता है, वह विरागपूर्ण भोग में जाता है। त्याग की भावना आने के बाद इन्द्रियों के स्वाभाविक धर्म को करते रहने पर भी, उसका फल नहीं होता, प्रतिक्रिया नहीं होती। भोग के साथ त्याग और राग के साथ योग, यह एक विलक्षण बात है। अपनी इन्द्रियों की क्षमता को बिना कुंठित किये त्याग के अंकुश से सम्पूर्ण सृष्टि में अपने को ही व्याप्त देखना निष्काम-योग है।

साधक में लोभ की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। जब वह अपनी आत्मा का प्रसार सब पदार्थों में देखने लगता है तो लोभ की वृत्ति का स्वयं अन्त हो जाता है। लोभ को चरित्र-दोष की दृष्टि से नहीं देखना चाहिये। यह मानसिक दोष है। यदि हम लोभ को चरित्र-दोष की दृष्टि से देखेंगे तो वह और बढ़ेगा। रोग केवल शरीर का नहीं, मन का भी होता। काम और क्रोध भी रोग ही है। दरअसल बात यह है कि जीवन के सिद्धान्तों को समझने का हमारा तरीका ही गलत हो गया है। मानसिक रोग से विकार उत्पन्न होते हैं।

अंतर्दृष्टि की प्राप्ति के लिये लोभ का समाप्त होना नितान्त आवश्यक है। दृष्टि भी दो प्रकार की होती है, अंतरंग और बहिरंग। अंतरंग दृष्टि आत्मा का अनुभव करती है और बहिरंग दृष्टि बाह्य विषयों का। विषयों के प्रति यदि दृष्टि को हटाया नहीं जाय तो मनुष्य मानसिक असंतुलन का शिकार बन जाता है। जब इच्छा असंतुलित हो जाती है और सिवाय इच्छित वस्तु के कुछ नहीं सूझता, तब मनोविकार उत्पन्न होता है। यही लोभ है। धन की इच्छा स्वत: लोभ नहीं है। पुत्र की इच्छा में ममता नहीं, और स्त्री की इच्छा में कामना नहीं है। यदि बच्चे घर में गलत काम करते हैं, तो उन्हें कठोर वचन कहना क्रोध नहीं है लेकिन, यदि यही भूत बनकर सिर पर ऐसा सवार हो जावे कि इसके सिवाय और कुछ नहीं सूझे तो यही काम, क्रोध और लोभ है। इसमें विचारों का न्यूरोसिस होता है और कभी-कभी इतना गहरा हो जाता है कि उसे डीप न्यूरोसिस की संज्ञा दी जाती है, और आदमी सीधे पागलखाने का चक्कर लगाने लगता है।

जिस वस्तु के पीछे हमलोग भूत की तरह दौड़ रहे हैं वह वस्तु हमलोगों की ही एक छाया-मात्र है। यह सम्पत्ति किसी की नहीं है। यह केवल सुख का साधन है, साध्य नहीं। यह श्रम से उत्पन्न हुआ है तो भोग में जायेगा ही। जब आदमी इसे साध्य मान लेता है तो उसका चित्त भ्रम में पड़कर चंचल हो उठता है, और वह न्यूरोसिस में पड़ जाता है। उस समय उसे व्यापक आत्मा की

अनुभूति नहीं होती। उपनिषद् के ये अनुभव वाक्य हैं, जिन्हें ध्यान की स्थिति में प्राप्त किया गया है।

उपनिषद् का यह मंत्र श्रेय और प्रेय, दोनों की समान साधना बतलाता है। श्रेय साध्य है, प्रेय साधन। प्रेय से सुख की प्राप्ति होती है, और श्रेय से आनन्द की। श्रेय मंगल का दाता है। प्रिय लगने वाली वस्तुओं को यदि साध्य मान लिया जायेगा तो श्रेय को भूलना ही होगा। जब मनुष्य श्रेय को भूल जाता है, और केवल प्रेय को याद रखता है, तो वह मानसिक कष्ट में फँसता है।

इसके सिवाय, एक और पंथ है, जिसे केवल श्रेय-पंथ कहते हैं। इसमें साधन, साध्य, जीवन, जीवन का अथ और इति सभी 'श्रेय' है। यह उच्च कोटि के संतों का पथ है। वहाँ उन्हें वैराग्य की प्राप्ति होती है।

अब हमारे सामने तीन मार्ग हुये – प्रेय का, श्रेय का और दोनों के समन्वय का। गीता में निवृत्तिमय प्रवृत्ति और प्रवृत्तिमय निवृत्ति की चर्चा आई है। जहाँ अकर्म में कर्म और कर्म में अकर्म देखा जाता है।

द्वितीय मंत्र

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥2॥

अन्वय एवं शब्दार्थ

कुर्वन्= करते हुये, *एव*= ही, *इह*= इस जगत् में, *कर्माणि*= कर्मों को, *जिजीविषेत्*= जीने की इच्छा करनी चाहिये, *शतं समा:*= सौ वर्ष तक, *एवम्*= इस प्रकार, *त्वयि*= तुझमें, *न*= नहीं, *अन्यथा*= अन्य कोई मार्ग, *अस्ति*= है, *इत:*= इससे भिन्न, *न*= नहीं, *कर्म*= किये जाना वाला कर्म, *लिप्यते*= लिप्त करता है, *नरे*= मनुष्य में।

अनुवाद

कर्मों को करते हुये सौ वर्ष तक जीने की कामना करो। इस तरह कर्म करने से कर्मों का ताप नहीं लगेगा और इसके अलावा दूसरा कोई रास्ता भी नहीं है।

व्याख्या

उपनिषद् का यह मंत्र आशावाद का है। ऐसा न हो कि इसके पूर्व मंत्र में जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, उससे कहीं गलत भ्रम हो जाए। लोग उसे वैराग्यमूलक समझकर सभी कर्मों को कहीं त्याग न दें। इसीलिये यहाँ कर्म की महत्ता पर जोर दिया गया है।

यहाँ कर्म का उपयोग बहुवचन में किया गया है। इसका अर्थ अच्छे और बुरे कर्म नहीं। साधारणतया कर्म तीन प्रकार के होते हैं। पहला है नित्यकर्म, जिसमें हमारे साधारण दैनिक कर्म आते हैं और जिसके लिये कोई नया अभ्यास नहीं करना पड़ता, जैसे भोजन करना, सोना इत्यादि। दूसरा है नैमित्तिक कर्म। इसमें उपनयन, विवाह आदि मांगलिक कार्य आते हैं, और तीसरा है काम्य

कर्म, जिसमें किसी कामना को लेकर ही कर्म किया जाता है, जैसे नौकरी, व्यापार, आदि। इन्हीं तीनों कर्मों के लिये यहाँ बहुवचन का प्रयोग किया गया है। कर्म का तात्पर्य कर्त्तव्य से है।

संसार के सब लोग जो प्रवृत्ति-मार्ग में लगे हैं, जिनके चारों ओर इच्छायें महत्त्वाकांक्षायें और कामनायें फैली हैं, कर्म के एकान्तिक परित्याग से सुखी नहीं हो सकते, बल्कि कर्म के सिवाय दूसरा कोई मार्ग उनके लिये श्रेयस्कर नहीं है। निवृत्ति मार्ग के अवलम्बन एवं कर्म के त्याग से उन्हें असफलता ही मिलेगी। यदि कर्म और संस्कार के रहते कोई निवृत्ति-पथ का अवलम्बन करता है तो उसकी दशा ठीक वैसे व्यक्ति की सी हो जाती है, जिसकी अन्तर्काया विजातीय द्रव्यों से भरी हो, पर ऊपर साफ रहकर स्वास्थ्य की कामना करता हो। कर्म संस्कार का क्षय किये बिना कर्म का त्याग कभी नहीं करना चाहिये। यजुर्वेद के आठवें अनुवाक में एक मंत्र आता है – *'अन्या पंथा न विद्यते।'* कमरे में प्रवेश तो दरवाजे से ही होगा, खिड़की और प्रकाश द्वार से नहीं। वैसे ही कर्म है। कर्म से कर्म का नाश सम्भव है।

संस्कारों के मूलोच्छेदन के लिये कर्म

प्रारब्ध को समाप्त करने के लिये कर्म और पुरुषार्थ आवश्यक है। इसीलिये गीता और योग-वाशिष्ठ में कर्म पर जोर दिया गया है। कर्म का सांसारिक या बाह्य पक्ष चाहे जो भी हो, उसका आध्यात्मिक पक्ष बड़ा महत्त्वपूर्ण है। संसार के जिस धर्म या पक्ष ने कर्म को हेय मानकर, उसका त्याग करवाया, वह जीवित नहीं रह सका। बौद्ध और जैन धर्मों की यही दशा हुई। उन्होंने गलत ढंग से मुक्ति के लिये कर्म का त्याग बतलाया।

जिनके ऊपर कर्म-संस्कारों का बोझ है, उनके लिये कर्म का ही रास्ता उचित है, तथा जो बन्धनमुक्त हो चुके हैं, उनके लिये निवृत्ति का मार्ग है। निवृत्ति मार्ग विहंगम-मार्ग है, और प्रवृत्ति-मार्ग पिपीलिका-मार्ग, जो मंथर तो है पर है ध्रुव। संसार में जो भी स्थावर या जंगम, जड़ या चेतन हैं, सभी एक-न-एक-दिन विकास की मंजिल तक पहुँचेंगे ही। मोक्ष की प्राप्ति सभी को होगी, अन्तर केवल इतना है कि कमजोर चाल वाला थोड़ा धीरे चलेगा। साधन मार्ग से मनुष्य थोड़ा शीघ्र पहुँचता तो है, पर यह सभी के लिये सुलभ नहीं। चंचल चित्त, अस्थिर वृत्तियाँ, मन में अनेकों कामनाएँ, शरीर के व्यवधान और विक्षेपों के आवेगों को लेकर कोई विहंगम मार्ग से कैसे चल

सकता है? उसमें तो केवल कष्ट ही कष्ट होगा। इसमें जीवन का मोह और उसकी सारी सुविधाओं को छोड़ना पड़ता है। जिन वस्तुओं से हमारा जन्म-जन्म का लगाव रहा है, जिन्हें हम अपना मानते हैं, उन्हें छोड़ देना पड़ता है, सारी भावनाओं को तिलांजलि दे देनी पड़ती है। अपने भूतपूर्व विचारों और मान्यताओं को छोड़ना पड़ता है। अपने पुराने व्यक्तित्व को समाप्त करना पड़ता है। यह त्याग का पंथ कितना कठिन है।

प्रवृत्ति-मार्ग में अपनी सारी कमजोरियों और अपने सभी गुणों को साथ लेकर बढ़ा जा सकता है। आवश्यकता है कि केवल उनकी दिशा बदल दी जाय। शास्त्रों ने जिसे प्रवृत्ति-मार्ग कहा है, उसे वेद ने कर्म-मार्ग की संज्ञा दी है। प्राचीन शास्त्रों ने जिसे निवृत्ति-मार्ग कहा, सांख्य उसे ही संन्यास मार्ग कहता है। यह श्रेष्ठ तो है ही। गीता में भी इसकी प्रशंसा की गई है।

छान्दोग्य-उपनिषद् में भी इन दो मार्गों का वर्णन आया है। छाया का मार्ग और धूप का मार्ग। पर हर व्यक्ति छाया के मार्ग से जा नहीं सकता। जो त्याग और अपराजेय वृत्ति वाला है, उसे यदि प्रवृत्ति-मार्ग में डाला जाय तो वह घुटन का अनुभव करेगा।

एक विचित्र बात है। संसार के लोग हठयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग या राजयोग को जानने के लिये लालायित रहते हैं, पर कर्मयोग को नहीं। कर्म की गति विचित्र होती है। केवल कार्य करने को ही कर्म नहीं कहते हैं। यह सृष्टि का एक नियामक सत्य है। यह एक ऐसी परम्परा है, जिसे मनुष्य जनम-जनम कमाकर पूंजी की तरह संजोता है। हम जब कर्म करते हैं, तब वह कर लेने मात्र से ही समाप्त नहीं हो जाता। मन और जीवन पर उसका निश्चित प्रभाव पड़ता है, उस प्रभाव को ही हम संस्कार कहते हैं, और उसके बाद विचारों का पुर्नजन्म भी होता है। यदि किसी घटना को केवल हम देखते हैं तो भी उसका प्रभाव हमारे जीवन पर पड़े बिना नहीं रह सकता। भले ही वह प्रभाव आज पड़े या दस साल बाद। आदमी बचपन में अपने माता-पिता को जो कर्म करते देखता है, उसे भले ही उसका अबोध मस्तिष्क समझ नहीं सके, पर उसके मानस-पटल पर उसका प्रभाव अंकित हुए बिना नहीं रहता। वह प्रभाव जितनी छोटी अवस्था में उसके ऊपर पड़ेगा, उतनी ही अधिक उम्र में वह प्रकट होगा। यदि माँ-बाप के चाल-चलन का प्रभाव दो या तीन वर्षों की उम्र में पड़ेगा, तो वह तीस या पैंतीस वर्षों की उम्र में प्रकट होगा।

आते-जाते, नजर आ पड़ने वाले रास्ते के दृश्य भी सूक्ष्म मन पर प्रभाव उत्पन्न करते हैं, तथा जाने-अनजाने एक संस्कार का निर्माण होता है। भले ही वह व्यक्ति उस दृश्य को बिना लोभ के ही क्यों न देखे। यदि लोलुप दृष्टि से देखता है, तो तीव्र संस्कारों का निर्माण होगा और वह शीघ्र प्रकट होगा। यदि तटस्थ भाव से देखा गया है, तो उसका प्रभाव देर से प्रकट होगा। यही वासना जीवन में हर्ष, शोक, मित्रता, शत्रुता, ईर्ष्या और कामना लाती है। चिन्ता और भय, चाहे जिस किसी भी प्रत्यक्ष कारण से सम्बन्धित हों, उनके अप्रत्यक्ष कारण भी होते हैं। हमारे अच्छे या बुरे, साधारण या तीव्र, सभी कर्म एक साथ इकट्ठे हो जाते हैं। सूक्ष्म शरीर में अलग-अलग कमरे नहीं हैं।

साधारणतया लोग कर्म से मुक्ति के लिये कर्म को ही छोड़ने की बात कहते हैं। कुछ ऐसी ही घटना का वर्णन योग-वाशिष्ठ में आया है। उसमें हिन्दू दर्शन का आदर्शवाद पूर्ण-रूप से उभरा है। वैराग्य का नित्य कर्मों के त्याग से कोई सम्बन्ध नहीं। जो विरक्त हैं, उनके लिये आवश्यक नहीं कि वे अपने कर्मों का त्याग करें। कर्म तो मनुष्य शरीर और समाज पर प्रकृति और संस्कारों द्वारा लादा गया है। उसे करना होगा और कर्म करते हुये भी कर्म-बन्धन छूट सकता है। हमारे सामने अनेक उदाहरण हैं। राजा जनक ने कर्मों के द्वारा ही सिद्धि पायी थी। यदि हम सेवा, साधना, आत्म-भावना और *'ईशावास्यं इदं सर्वं'* की भावना से कर्म करेंगे तो शुभ हो या अशुभ, वह हमें बांध नहीं सकता। कर्म सकाम हो या निष्काम, कोई मायने नहीं रखता, पर यह जरूरी है कि हमारी इच्छायें हमारे सिर पर भूत की तरह छा न जायें। यदि ऐसा होगा तो वही बन्धन का कारण बन जायेगा।

यहाँ उपनिषद् केवल कर्म पर ही जोर नहीं देते, बल्कि सौ साल जीने की प्रेरणा भी देते हैं। यह आशावाद की भावना है। आशावादी जब अपने भविष्य को देखता है तो उसे सर्वदा प्रकाश दिखता है। जीवन के तिमिर में भी उसे आशा की किरण फूटती नजर आती है।

जीवन में आशावादी दृष्टिकोण रखने के लिये जीवन और कर्म, दोनों से प्रेम रखना आवश्यक है। तभी जीवन सुनहरा होता है। कुछ लोग अपने गलत आचरण के कारण जीवन से थक जाते हैं और छुट्टी पाना चाहते हैं। उनके जीवन में राग और विराग, दोनों में संघर्ष चलता रहता है। कर्म से प्रेम नहीं रहने के कारण जीवन अंधकारमय हो जाता है।

वेद में केवल सौ वर्ष तक जीने की ही कामना नहीं की गई है, बल्कि स्वस्थ रहकर जीने को कामना की गई हैं। *'जीवेम शरद शतम्, पश्येम शरद: शतम्'* – यही उपनिषद् की भावना है। कर्म और दीर्घजीवन, दोनों की आवश्यकता ठहरायी गयी है।

यदि हमें कर्म करते हुये उसका श्रम प्रतीत होगा तो सम्भव है कि हम निराशावादी हो जायें। उसके बाद कर्म के उस पारिश्रमिक का पूर्ण उपभोग नहीं कर पायेंगे। निराशावादी व्यक्ति को संसार में सब कुछ प्राप्त होने पर भी निरन्तर पश्चात्ताप करना पड़ता है। अच्छा डॉक्टर मिलने पर भी मृत्यु का भय बना रहता है। कोई धनी व्यक्ति यदि निराशावादी हुआ तो उसे निरन्तर धन-क्षय का भय बना रहता है।

निराशावादी व्यक्ति को जीवन से बड़ा राग होता है। योग-शास्त्र में इसे 'अभिनिवेश' कहा गया है। जीवन से जिस व्यक्ति को जितना राग होता है, वह अपने को उतना ही पराजित अनुभव करता है, और कितने तो इसी भावना से पीड़ित होकर आत्महत्या कर बैठते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान भी यही कहता है।

जो आशावादी जीवन व्यतीत करते हैं, वे मृत्यु के आने पर उसका स्वागत करते हैं, और वह जब तक नहीं आती, उसे याद भी नहीं करते। वे जीवन में स्वतंत्र विचरण करते हैं। ऐसे ही व्यक्ति के जीवन में प्रतिभा आती है। मनुष्य को सदा जीवन के साथ चलना चाहिये। जितना जीवन हमें मिला है, उसके प्रति अवहेलना का भाव नहीं रखना चाहिये। यूँ तो प्रत्येक आदमी ज्यादा दिन जीना चाहता है, पर कर्म ही वह ऐसा करता है कि वह अल्पायु बन जाता है।

कर्म का एक अपना दर्शन है, एक महान् दृष्टिकोण है। भले ही राजनीतिज्ञ इसे मात्र राष्ट्रीय उत्पादन की दृष्टि से आवश्यक समझें, पर इसका आध्यात्मिक दृष्टिकोण भी है। कर्म मनुष्य के संस्कारों को क्षय करने का एक शक्तिशाली माध्यम है। जन्म-जन्म की संचित वासना का क्षय कर्म से ही होता है। हमारे जन्म-जन्म के किये, विभिन्न प्रकार के अच्छे और बुरे कर्म, जो धरोहर के रूप में संचित रहते हैं, उन्हीं के योग को वासना कहते हैं। कर्म का सम्बन्ध केवल शरीर से ही नहीं, जीव से भी है।

कर्म से पहले कर्म का भाव हमारे विचारों में आता है। इन विचारों से इन्द्रियाँ प्रभावित होती हैं, और तब हम कर्म करते हैं। अब प्रश्न उठता है कि विचार हमारे मन में कहाँ से आते हैं। भौतिकवादी कहते हैं कि समाज

की परिस्थितियों से प्रभावित होकर ये विचार हमारे मन में उत्पन्न होते हैं, पर उसकी वास्तविक क्रिया अन्दर से ही उत्पन्न होती है, भले ही बाह्य परिस्थितियाँ चिनगारी बनकर उन्हें भड़काने का काम करें। हमारे अंत:करण में दबी हुई वासनाएँ बाह्य वातावरण के सम्पर्क में आकर जागृत होती हैं, और तब मन में विचारों का उदय होता है। वेदान्त में इस वासना को सूक्ष्म शरीर कहा गया है। यह वासना समाप्त भी होती है और गहरी भी। कभी तो यह इतनी गहन हो उठती है कि प्रतीत होता है कि इसकी समाप्ति असम्भव है।

जब एक ओर कर्म करने से संस्कारों का नाश होता है, तो दूसरी ओर नये संस्कार उत्पन्न भी होते हैं। कर्म-वासना की गठरी कभी हल्की तो कभी भारी होती रहती है। इसीलिये शास्त्र कहता है कि यदि अनासक्त भाव से कर्म किया जाए, तो नई वासना का प्रकटीकरण नहीं होगा।

यूनान के राजा मिलिन्द ने योगी नागार्जुन से एक बार यही प्रश्न पूछा था, 'जीव के कर्म कब बनते हैं और कब नहीं?' उन्होंने कहा था कि अनुकूल ऋतु में उर्वरक देकर खेत में बीज बोया जाए, तो अधिक उपजेगा, पर यदि वही बीज कहीं मेढ़ पर गिरे, तो पौधा तो उगेगा पर शीघ्र नष्ट हो जाएगा। यदि उसी बीज को बोने के पहले तवे पर भून दिया जाए तो कितना भी अनुकूल वातावरण क्यों न हो, वह अंकुरित नहीं होगा। कर्मों के बीज को भी यदि अनासक्ति के तवे पर भून दिया जाए तो उसमें से संस्कारों के अंकुर नहीं फूटेंगे। पर उन्हें अविद्या और आसक्ति की भूमि पर बोया जाए तो पैदावार सौ गुनी होगी। हमारे संस्कारों की गठरी भारी हो उठेगी।

क्रमविकास की परम्परा में कर्मों का बड़ा महत्त्व है। जो इन कर्मों को साधना के रूप में स्वीकार करते हैं, उनका प्रत्येक पक्ष मजबूत होता है। कर्म प्रकृतिजनित असमर्थता का नाम है। कोई चाहे या न चाहे, कर्म करना ही पड़ेगा। यदि कर्म छोड़ दिया जाए तब भी विचार तो करना पड़ेगा, और यदि विचार भी नहीं किया जाए तो विक्षिप्तावस्था की प्राप्ति होगी।

मोक्ष प्राप्ति के लिये कर्म के सिवाय दूसरा कोई रास्ता नहीं है। हमारे दार्शनिक सिद्धान्त की यह एक बहुत बड़ी सीमा है। जर्मनी के एक विद्वान् ने कहा था कि इतना उदारवादी हिन्दू-दर्शन इस स्थान पर कितना कठोर हो गया है। इसकी व्याख्या करते हुये जगद्‌गुरु शंकराचार्य ने कहा है कि इसका केवल यही अर्थ नहीं है, बल्कि हमें देखना होगा कि यह किस सन्दर्भ में कहा गया है। ईशावास्योपनिषद् यजुर्वेद की चालीसवीं संहिता है। पिछली उनतालीस

संहिताओं में कर्मकाण्ड का वर्णन आया है। इसलिये ऐसा कहा जा सकता है कि यह वैसे लोगों के लिये लिखा गया है, जो कर्मरत हैं। यह संतों, तपस्वियों या वैरागी जितेन्द्रियों के लिये नहीं है। ऐसे लोगों के लिये भी यह नहीं है जो कर्म की सीमा को पार कर निष्कर्म या अकर्म भाव को प्राप्त हो चुके हैं। जो लोग संसार की घटनाओं से ऊपर उठ चुके हैं, विरागी हो चुके हैं, ऐसे लोगों के लिये तो ज्ञान मार्ग है, राजयोग का मार्ग है। जो शरीर से पुष्ट हैं, उनके लिये हठयोग का मार्ग है। जो भावुक हैं, वे भक्तिमार्ग में जा सकते हैं। पर जिन लोगों को चौबीसों घण्टे निन्यानवे का चक्कर लगा रहता है, सिवाय स्वार्थ के और कुछ दिखता ही नहीं, वैसे लोगों के लिये कर्म के सिवाय और कौन-सा रास्ता हो सकता है?

यहाँ एक प्रश्न और उठता है कि कर्ममार्ग में मनुष्य चाहे कितना भी सतर्क क्यों न हो, कुछ-न-कुछ कर्म-संस्कार का उदय होगा ही। यही तो काजल की कोठरी है, पैठने वाले के लिए दाग की संभावना बनी ही रहेगी। इसीलिये संतों ने विवेक और वैराग्य का सहारा लेने की सलाह दी है। नहीं तो कर्म की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का प्रभाव सभी पर पड़ता है, जिसे हम कर्म का लोप कहते हैं। कर्म की प्रतिक्रियायें कालान्तर से अनेक रूपों में प्रकट होती हैं, संभव है कि यह शारीरिक रोग के रूप में प्रकट हो। कभी-कभी तो मनुष्य कर्म-संस्कारों का अनुभव अपने जागृत जीवन में नहीं भी करता है, पर सुषुप्तावस्था में, स्वप्न में या विचारों में तो करता ही है।

मनुष्य का कर्म बीज की तरह उसके मन पर पड़ता है और अनुकूल समय पाकर अंकुरित होता है। कर्म को तो हम देखते हैं, पर सम्भव है कि उसका फल हम नहीं भी देखें। कर्म और फल के बीच एक कड़ी है, जिसे अदृश्य कहते हैं। कर्म से फल तक की क्रिया किसी के देखने में नहीं आती है। यह प्रतिक्रिया और प्रभाव के रूप में निरन्तर चलती रहती है। इसकी गति बड़ी रहस्यमयी होती है, जो शब्द तरंगों की तरह निरन्तर अदृश्य में बढ़ती रहती है। हमारे कर्मों से एक प्रभाव उत्पन्न होता है, जो मन पर छा जाता है, और तदनुसार हमारे जीवन में क्रियायें और प्रतिक्रियायें होती हैं। जब तक मनुष्य कर्मशून्य नहीं हो जाता, वासनायें समाप्त नहीं हो जातीं, तब तक कर्म के चक्कर में पड़ना ही पड़ता है।

कर्म के समय एक और ध्यान देने की बात है कि हमारे कर्म में अहंकार का भाव नहीं आए। यदि कर्त्ताभाव आ गया तो चाहे सत्कर्म हो या कुकर्म, दोनों

बंधन के कारण हैं। हथकड़ी सोने की हो या लोहे की, बंधन का काम समान रूप से करती है, इसलिये कर्म करते समय सोचना चाहिये कि मैं कर्त्ता नहीं, बल्कि मेरे द्वारा कर्म हो रहा है। ऐसा करने से कर्म जीवन में दिव्य-प्रेरणा देता है और इससे चिन्ता या थकान का अनुभव नहीं होता।

कर्म की प्राय: दो प्रतिक्रियायें होती हैं। एक को हम कर्म का प्रभाव कहते हैं, जिसका अंत विवेक के द्वारा किया जा सकता है। दूसरा कर्मलेष है। इससे छुटकारा तो केवल जीवनमुक्त या विदेह को ही होती है।

इस प्रश्न पर वेद में अनेक चर्चायें हुई हैं। अन्त में यही निष्कर्ष निकला कि यदि मनुष्य सत्कर्म करे, ज्ञानपूर्ण कर्म करे तो वह बंधन का कारण नहीं होगा। कर्म करते समय त्याग और सेवा, इन दो भावनाओं का होना आवश्यक है। संन्यासी में त्याग और गृहस्थ में सेवा-भाव होना जरूरी है। सेवा-भाव को लेकर सौ साल तक जीने की इच्छा करने से, वासना-शरीर पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। इससे आत्म-विकास होता है। दूसरों का तो भला होता ही है, अपना भी भला होता है। मृत्यु के बाद सारी सेवायें प्रकाश बनकर सामने आती हैं। उस ज्योति के पीछे-पीछे वासना-शरीर चलता है। प्रकाश-पुंज के सहारे वासना-शरीर गृहस्थों के घरों में जाता है, और सुन्दर जन्म ग्रहण करता है।

निष्कर्ष यह कि जब मनुष्य ईश्वर की सत्ता को स्वीकार कर उसकी उपस्थिति का अनुभव सर्वत्र करता है, और लोभरहित होकर संयम एवं अनासक्त भाव से सेवाकार्य करता है तो कर्म उसके लिये बंधन का कारण नहीं बनता।

तृतीय मंत्र

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताँ्स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥3॥

अन्वय एवं शब्दार्थ

असुर्या= असुरों के, *नाम*= प्रसिद्ध, *लोका*= लोक, *अन्धेन तमसा*= अंधकारपूर्ण, *आवृता*= आच्छादित, *ते*= वे, *प्रेत्य*= मृत्यु उपरान्त, *ताम्*= उन्हीं, *अभिगच्छन्ति*= बार बार प्राप्त होना, *ये के च*= जो कोई भी, *आत्महन:* = आत्मघाती, *जना:* = मनुष्य।

अनुवाद

आत्महत्या करने वाले मनुष्य मृत्यु के बाद अंधकारपूर्ण आसुरी लोक को जाते हैं।

व्याख्या

इसके पूर्व मंत्र में निराशावादी के जीवन के विषय में कुछ संकेत दिया गया था। जो जीवन को केवल वर्तमान के आधार पर आँकते हैं, भविष्य के विषय में सदा चिंतित रहते हैं, वे घबराकर आत्महत्या कर लेते हैं। प्रकृति का एक विचित्र नियम है कि लोगों को केवल वर्तमान ही दिखता है, भविष्य नहीं। जो कल था आज नहीं है, और जो आज है कल नहीं रहेगा। पर इस प्राकाट्य सिद्धान्त को भूलकर जीवन से निराश रहने वाले व्यक्ति की मृत्यु के बाद बुरी गति होती है। उसके वासना-शरीर के चारों ओर एक अन्धकारमय पर्दा छा जाता है। प्रकाशहीन वासना-शरीर जहाँ का तहाँ पड़ा रह जाता है। पता नहीं वह किस योनि में जायेगा।

जिन्हें शरीर से विकट राग है तथा जीवन में निराशायें ही मिली हैं, वैसे व्यक्ति आत्महत्या करते हैं। जीवन को असमय ही समाप्त कर देते हैं। यह

तो एक प्रकार के व्यक्ति हुये। पर दूसरे प्रकार के व्यक्ति भी होते हैं, जिनकी संख्या करोड़ों में है। वे जिन्दगी की प्रतीक्षा नहीं करते। अपने आप से ही थक जाते हैं – वे भी आत्मघाती हैं।

जिसे जीते जी प्रेम और सहानुभूति नहीं मिली, जीवन में कष्ट ही कष्ट मिला, और मरने के बाद श्रद्धांजलि नहीं मिली, उसकी आत्मा मृत्यु के बाद भटकती रहती है। मृत्यु के बाद जब वासना-शरीर अलग होता है, तो वह कुछ ही काल के बाद मूर्छित-सा हो जाता है। संज्ञाहीन होने के बाद उसमें अपनी कोई गति नहीं रहती। उसकी अवस्था उस फुटबॉल की तरह होती है, जो बिना पैर की ठोकर खाये गतिशील नहीं होती।

पर इस शरीर को ढोने के लिये प्रकृति ने एक उपादान बना रखा है, जिसे हम कारण-शरीर कहते हैं। यह मनुष्य के जन्म-जन्मान्तरों के जन्म लेकर भोग भोगने की इच्छाओं का संचय है। जन्म-जन्मान्तर में जो कर्म किये गये और बीज बनकर रह गये, उपयोग में नहीं आ सके, वे पुराने पड़े बीज अपने वास्तविक स्वरूप को खोकर गोदाम में पड़े रह जाते हैं। उनका पचास जन्मों तक कोई उपयोग ही नहीं हो पाता। वे पाप-पुण्य या तीव्र संस्कार नहीं, बल्कि साधारण संस्कार होते हैं। उनकी समष्टि को ही कारण-शरीर कहा जाता है। इसका रंग धुएँ की तरह होता है, और स्वरूप छाया की तरह। इसमें कोई गतिमान् प्रकाश नहीं होता, परन्तु रेलगाड़ी की तरह वासना-शरीर को ढोकर आगे ले जाने की क्षमता रहती है। यह वासना-शरीर का मार्ग-बन्धु है। इसमें जन्म लेने की उत्कट अभिलाषा रहती है। किन्तु जो निराशावादी होते हैं, वे जीना तो चाहते हैं, पर साथ ही जीवन से घबराते हैं। उनके कारण शरीर में एक प्रकार का संकोच हो जाता है। जन्म लेने की अभिलाषा तो जीवात्मा का स्वाभाविक गुण है, पर अपने पूर्व जन्म में उसे जो कटु अनुभव हुये थे, परिस्थितियों से जो पराजय मिली थी, उसने जो ठोकरें खाईं थीं और ऐसे जिन कारणों से आत्महत्या करनी पड़ी थी, वे कारण-शरीर की गति में बाधा उत्पन्न करती हैं।

मृत्यु के बाद मानव-देह जब तक घर में या कब्र में रहती है, तब तक कारण शरीर आगे नहीं बढ़ता। उसकी प्रबल इच्छा रहती है कि जिस शरीर से उसका परिचय था, उसी में पुनः प्रवेश करे। शरीर के नष्ट हो जाने के बाद जब वह देखता है कि उस समय, उस घर में कोई गर्भ रहता है तो वह उसी में शीघ्र प्रवेश कर जाता है।

यही कारण है कि हिन्दू मतावलम्बी के घर में जब भी मृत्यु की कोई घटना होती है तो परिवार वाले ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। कहीं ऐसा न हो कि मृतात्मा का पुन: वहाँ प्रवेश हो जाए। कारण-शरीर को भी एक घर चाहिये और जन्म की अभिलाषा के साथ-साथ वह दूर जाना नहीं चाहता। उसकी आत्मा सत् होने पर भी गलत जगह पर जा सकती है। यह अवस्था उस यात्री की सी होती है, जो भूखा-प्यासा किसी मोटर से उतरे और सामने जो भी होटल मिल जावे, उसी में अपनी क्षुधा तृप्त करने के लिये घुस पड़े।

कुछ ऐसे त्यागी, सन्त, भक्त या धर्मात्मा होते हैं, जिनके वासना-शरीर में मृत्यु के बाद भी चेतना बनी रहती है। वे सजग रहते हैं, पर जो निम्न-कोटि के हैं, उनका वासना-शरीर संज्ञाशून्य रहता है और मृत्यु के बाद कारण-शरीर पर भरोसा करना ही पड़ता है। यदि कारण-शरीर आगे बढ़ा या माता के गर्भ में गया तो वह भी गया, पर यदि कारण-शरीर निराशा, आत्महत्या या जीवन के भय के कारण ग्रस्त हो, तो वह जहाँ-का-तहाँ रुका रह जावेगा और आत्मा भटकती रहेगी। जब तक किसी भी ढंग से उसे चैतन्य नहीं किया जाए, वह लुढ़कता रहेगा।

शास्त्र में इसका विधान है। कारण-शरीर का विस्तार करना पड़ता है। उसके अन्दर से भय को निकालना पड़ता है तथा यह कामना भरनी पड़ती है कि अगला जन्म अच्छा होने वाला है।

जिन लोगों ने कुछ सत्कर्म किया है, उनका वासना-शरीर पूर्णशून्य नहीं होता। उसकी अनुभूति कुछ-कुछ उस व्यक्ति की सी होती है, जिसने थोड़ी भांग पी ली हो। हल्के नशे की सी हालत रहती है, पर भक्त और संत के वासना-शरीर में गति रहती है। उस दशा में भी वह स्वयं अपने वासना-कर्मों को याद कर आगे बढ़ता है, और माता को खोजता है। जो निराशावादी हैं, उन्हें यदि किसी कारणवश चेतना रह भी जाए तो पता नहीं अंधकार में वे कहाँ जावेंगे।

यह मनुष्य-शरीर ही एकमात्र ऐसा उत्तम माध्यम है, जिसमें भोग और मोक्ष, दोनों की प्राप्ति होती है। मृत्यु के बाद का काल भोग का नहीं, बल्कि अंधकार का है। बीज कुंठित हो जाता है। यदि अध्यात्म या मोक्ष का आनन्द कोई लेना चाहे तो पुन: उसे इसी शरीर में आना पड़ेगा, चाहे माता के गर्भ द्वारा शरीर में आवे या किसी जीवित व्यक्ति के शरीर में प्रवेश क्यों न

करे। आदमी के अपने मनोभावों की प्रतिक्रिया केवल मृत्यु के बाद ही नहीं बल्कि जीवितावस्था में भी होती है। उसके व्यक्तित्व का तेज उसके विचारों के अनुकूल घटता-बढ़ता या रंग बदलता रहता है। यदि स्वस्थ विचार का व्यक्ति हुआ तो उसका तेज नारंगी रंग का हो सकता है, यदि उसकी विचार शृंखला में निराशा, भय और क्रोध का कहीं समावेश हो गया तो वही गहरा लाल, भूरा या काला रंग पकड़ लेता है। यह तेज संकुचित होता और फैलता रहता है। निर्भय रहने से कारण-शरीर फैलता है। अमेरिका में थोरो नाम का एक आदमी था। वह जीवन से थक चुका था। उसे जीवन में निराशा-ही-निराशा हाथ लगी थी। एक दिन उसे गीता की एक प्रति हाथ लगी। उसने उसे पढ़ा और बात समझ में आ गयी। उसने सोचा यदि जीवन के 77 वर्षों तक निराशा हाथ लगी है तो क्या? यदि 78वें वर्ष में भी सफल हो गया तो पिछली सारी असफलताएँ बस केवल एक वर्ष में ही धुल जायेंगी। ऐसा हुआ भी।

सारी भौतिक बातों के अलावा एक और बात लोगों को समझनी चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति मूल रूप में दिव्य है। उसके अन्दर एक ऐसी शक्ति छिपी है, जिसे जान लेने के बाद वह आस्थावान्, आत्म-निर्भर, निर्भीक और श्रद्धालु हो सकता है। सुकरात ने कहा था – 'अपने को पहचानो'। निराशावाद को दूर करने का यह सबसे उत्तम उपाय है। रमण महर्षि के निकट यदि कोई जाता था तो वे एक ही बात बोलते थे – 'सोचो मैं कौन हूँ।' जीवन में जिस दिन अन्वयव्यतिरेक के बाद यह उत्तर मिल जावेगा कि 'मैं आत्मस्वरूप हूँ', उसी दिन निराशा का बिन्दु समाप्त हो जावेगा।

चतुर्थ मंत्र

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥4॥

अन्वय एवं शब्दार्थ

अनेजत्= अचल, *एकम्*= एक, *मनस:*= मन से (भी) *जवीय:*= अधिक तीव्र, *न*= नहीं, *एनत्*= इनको, *देवा:*= इन्द्रियादि देवता, *आप्नुवन्*= पा सके, *पूर्वम्*= सबके आदि, *अर्षत्*= जानने वाले, *तत्*= वह, *धावत:*= दौड़ने वालों को, *अन्यान्*= दूसरे, *अत्येति*= अतिक्रमण करते हैं, *तिष्ठत्*= स्थिर रहते हुए ही, *तस्मिन्*= उन्हीं की सत्ता से, *मातरिश्वा*= वायु, *अप:*= वृष्टि आदि क्रिया, *दधाति*= सम्पादन करने में समर्थ होते हैं।

अनुवाद

आत्मा अचल है, लेकिन यह मन से भी तीव्र गति वाली है। इन्द्रियाँ आदि देवताओं की गति वहाँ तक नहीं, यह उनसे भी आगे चलती है। यह अचल रहते हुए भी अपना पीछा करने वाले से तेज भागती है। उसी की व्याप्तता के कारण वायु, जल आदि अपनी क्रियाओं का सम्पादन करते हैं। यह पंचतत्त्वों को अपने में धारण करती है, जैसे समुद्र में जल।

व्याख्या

अब प्रश्न उठता है कि यह आत्मा है कौन? भारतीय दर्शन में आत्मा का प्रयोग तीन स्थानों पर हुआ है। जहाँ कहा गया है कि आत्मा अमर है, वहाँ आत्मा का व्यवहार ईश्वर के लिये आया है।

जब कहा जाता है कि आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाती है या भटकती है, वहाँ यह शब्द वासना-शरीर के लिये आया है। गीता में

एक जगह कहा गया है कि आत्मा से आत्मा को उठाओ। वहाँ मन और बुद्धि के लिये आत्मा का प्रयोग हुआ है। यहाँ जिस आत्मा के विषय में कहा गया है, वह इन्द्रियों की पहुँच के परे है। यह मन, बुद्धि और इन्द्रियों का विषय नहीं। सम्भव है कि भौतिकवादी उस सत्ता को न मानें, जो इन्द्रियों की पहुँच के बाहर है।

भारतीय-दर्शन में चार्वाक-मत भी आता है। इसके अनुयायियों को नास्तिक कहा जाता है। ये सृष्टि के पाँच तत्त्वों को न मानकर, केवल चार को ही मानते हैं। ये आकाश तत्त्व को नहीं मानते, क्योंकि वह अदृश्य है। भारतीय दर्शन का प्रारम्भ ही यहीं से होता है। जो सत्ता इन्द्रियगोचर है, उसके विषय में तर्क क्या हो सकता है। तर्क तो केवल अदृश्य शक्ति के बारे में ही होता है। उपनिषदों में अनेक जगह ऐसी बातें आयी हैं। जिज्ञासु अदृश्य सत्य के बारे में पूछता है और कहता है कि यह मुझे दिखायें। जहाँ ऐसी बात आयी है, वहाँ कहा गया है कि यह इन्द्रियों का विषय नहीं है। संसार में जो वस्तु इन्द्रियों का विषय है, वह माया है। जो इन्द्रियों से देखा जा सकता है, वह ब्रह्म कैसे हो सकता है? वह तीनों कालों में सत्य नहीं हो सकता। विचार को ही लें, वह हमेशा बदलता रहता है।

जो वस्तु स्थूल है वह इन्द्रियगम्य होती है, जो सूक्ष्म है वह मन और बुद्धिगम्य, तथा जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म है वह अनुभवगम्य है। जो आकार में बड़ी होती है वह स्थूल, और जो छोटी वह सूक्ष्म होती है, किन्तु आत्मा का कोई आकार नहीं है। जिसका आकार होता है, उसकी सीमा भी होती है। यही कारण है कि ध्यान की स्थिति में इष्टदेव का अनुभव भी तीन प्रकार से होता है। एक तो छाया या ज्योति के रूप में – यह अपनी वृत्तियों का मानसिक रूप है। दूसरा आकार या आकृति के रूप में। यह साधक के अपने अनुभवों का स्वरूप है और तीसरा जो आकार और प्रकार से परे है – यही आत्मा का रूप है।

आत्मा एक सर्वव्यापक सार्वभौम सत्य है, जिसके अनुभव के लिये कहीं जाना नहीं पड़ता। मन की गति प्रकाश से भी तेज है। एक ही क्षण में सम्पूर्ण विश्व की बातें इसमें समा सकती हैं। विचार-प्रेषण पद्धति के अनुसार जितना विलम्ब हमें विचार करने और अपने विचारों को अनुभव करने में लगता है, उतनी ही देर हमारे विचारों को दूसरे व्यक्ति तक पहुँचने में लगती है। जो व्यक्ति विचार करना और उसकी तरंगों को निकालना जानता है, वह एक क्षण

में सम्पूर्ण सृष्टि के तीन चक्कर लगा सकता है। पर आत्मा इससे भी तेज है। मन एकदेशीय है। इसे आगे बढ़ने के लिये वातावरण को चीरते हुये बढ़ना पड़ता है। इसलिये इसे थोड़ा समय तो लगता ही है। लेकिन जो सर्वव्यापक है, उसे पहुँचने के लिये कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है, फिर उसे समय कैसे लगेगा?

इस आत्मा को देवता भी नहीं जानते। पुराणों में कई स्थानों पर देवता शब्द आया है। इन्द्र, वरुण आदि देवता किसी-न-किसी के प्रतीक हैं, पर आध्यात्मिक विचारधारा के अनुसार इन्द्रियाँ ही देवता हैं। यह शब्द संस्कृत के 'द्युत्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है प्रकाश। इसी से विद्युत और देव शब्द की व्युत्पत्ति हुई है।

जिस लोक में इन्द्रियाँ हैं, उसे भूलोक कहा गया है। यह चेतना की पहली भूमिका है। जब ज्ञान का आधार मन और बुद्धि होते हैं, तब वह चेतना की दूसरी भूमिका है। इस प्रकार हमारी चेतना के चौदह धरातल होते हैं। सात ऊपरी और सात निचले। निचले धरातल को पाताल लोक की संज्ञा दी गयी है। प्रत्येक धरातल पर एक-एक अनुभव करने वाला होता है, जिसे देवता कहते हैं। वह उस लोक का स्वामी है। वह प्रकाशवान् है। इसीलिये इन्द्रियों को देवता कहा गया है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या स्थूल इन्द्रियाँ ही देवता हैं? आखिर इन्द्रियाँ हैं क्या? यूँ तो सभी जानते हैं कि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कमेन्द्रियाँ होती हैं, पर इन स्थूल इन्द्रियों के अलावा सूक्ष्म इन्द्रियाँ भी होती हैं। इनका सूक्ष्मलोक ऐसा होता है जहाँ 'बिनु पग चलै सुनै बिनु काना' वाली बात होती है। इनके द्वारा सम्पूर्ण क्रियायें होती हैं और ये पंच-विषयों का अनुभव भी करती हैं। ये अंतर्गम्य होती हैं। देवता इससे भी सूक्ष्म होते हैं। वे स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण, अहंकार और महत्, इन सभी अवस्थाओं में रहते हैं। इसी प्रकार स्थूल इन्द्रियाँ हैं, जैसे हाथ, पैर इत्यादि। उससे सूक्ष्म मन और बुद्धि, उससे सूक्ष्म वे इन्द्रियाँ जिनके द्वारा हम स्वप्न में अनुभव करते हैं, और उससे भी सूक्ष्म वे हैं, जिनके द्वारा योगाभ्यासी ध्यान में अनुभव करते हैं। इस प्रकार लोक-लोकान्तरों में हमारी जो इन्द्रियाँ होती हैं, उन्हें हम देवता कहते हैं। चेतना के विशेष धरातल पर वे अनुभूतियों का माध्यम होती हैं पर वे इतनी सूक्ष्म होने पर भी उस आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकती हैं। आत्मा सातों लोकों के भी परे है।

यह तो सभी जानते हैं कि व्यक्तिगत चेतना की सात स्थितियाँ हैं, जिन्हें हम सप्त-लोक कहते हैं। वे हैं भूलोक, भुव: लोक, स्व: लोक, मह: लोक, जन: लोक, तप: लोक और सत्यलोक। व्यक्तिगत चेतना इन सातों लोकों में जाती है और ध्यान की अवस्था में इनका अनुभव होता है। आत्मा इससे परे है। वह वहाँ है जहाँ इन्द्रियाँ नहीं जा सकतीं। चेतना के इन सात धरातलों को पार करने के बाद ही आत्मा का अनुभव होता है। इसी स्थिति की चर्चा करते हुये ईसाई-ग्रथों में कहा गया है कि हमारे पिता का घर सातवें आसमान के पार है। यह साधारण चेतना नहीं है। साधक की चेतना की इन सात भूमिकाओं को सप्त ज्ञान भूमिका कहा गया है। साधक को जब बिना गुरु या बिना किसी प्रयास के शुभ इच्छा जगे तो समझना चाहिये कि वह चेतना को पहली भूमिका में है। ध्यान में यदि अन्य भौतिक वस्तुयें दिखलाई दें, तो समझना चाहिये कि चेतना अभी नीचे के लोकों में है, जिसे हम पाताल लोक कहते हैं।

इन अवस्थाओं में अनुभव कौन करता है? स्वप्न में दृश्य कौन देखता है? बिना माध्यम के अनुभव नहीं। बिना इन्द्रियों के अनुभूति नहीं। स्थूल देह में स्थूल इन्द्रियाँ और सूक्ष्म देह में सूक्ष्म इन्द्रियाँ होती हैं। यहाँ तक कि सविकल्प समाधि की अवस्था में भी देवता होते हैं। पतंजलि के अनुसार यदि अनुभव करने वाला नहीं रहेगा तो अनुभव करेगा कौन? ध्यान की अवस्था में भगवान शंकर, कृष्ण, गुरु आदि का अनुभव कौन करता है? अनुभव के समय तीन वस्तुओं का होना जरूरी है। वे हैं ध्यान, ध्येय और ध्याता-ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता। जहाँ ये तीनों वस्तुयें एक साथ मिलती हैं, उसे योग शास्त्र में त्रिकुटि कहा गया है।

अनुभूतियों के क्रम में साधक को साकार का दर्शन होता है, उसके बाद छाया का स्वरूप और शुद्ध होने पर प्रकाश। इससे आगे अंत पुरुष का दर्शन होता है, और जब एकदम शुद्ध हो जाता है तो कुछ नहीं। सारी अनुभूतियाँ समाप्त हो जाती हैं।

पंचम मंत्र

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥5॥

अन्वय एवं शब्दार्थ

तत्= वह, *एजति*= चलता है, *तत्*= वह, *न एजति*= नहीं चलता, *तत्*= वह, *दूरे*= दूर से भी दूर है, *तत्*= वह, *अन्तिके*= अत्यंत समीप है, *तत्*= वह, *अस्य*= इस, *सर्वस्य*= समस्त जगत् के, *अन्तः*= भीतर (परिपूर्ण है), *तत्*= वह, *अस्य*= इस, *सर्वस्य*= समस्त जगत् के, *बाह्यतः*= बाहर भी है।

अनुवाद

इस मंत्र में आत्मा की क्षमता के बारे में कहा गया है। वह चलती भी है और नहीं भी। वह अत्यन्त दूर भी है और समीप भी। वह सम्पूर्ण जगत् के भीतर और बाहर व्याप्त है।

व्याख्या

आत्मा में एक साथ ही ये परस्पर विरोधी दिखने वाले गुण रह सकते हैं। ध्यान से देखने पर ये गुण आपस में विरोधी नहीं हैं। इस आत्मा को समझने के अनेकों तरीके हैं। एक प्रणाली है तर्क से समझने की और दूसरी है अनुभव से जानने की। अनुभव का ज्ञान सर्वश्रेष्ठ है। संसार के प्रत्येक तत्त्व का उद्भव आत्मा से ही हुआ है। जिस प्रकार मिट्टी से घड़ा जन्म लेता है, उसी प्रकार सृष्टि के पंचतत्त्वों का उद्भव भी इसी आत्मा से होता है। इन तत्त्वों के पहले पंचतन्मात्राएँ बनीं जिन्हें हम आकाश तन्मात्रा, वायु तन्मात्रा, अग्नि तन्मात्रा, जल तन्मात्रा और पृथ्वी तन्मात्रा कहते हैं। इनकी स्थिति बड़ी सूक्ष्म होती है। इसके बाद ये पंच-तन्मात्राएँ महाभूतों में परिणत हो जाती हैं।

जब इनमें स्पन्दन होता है तो ये कुछ स्थूल हो जाती हैं। स्थूल होने के बाद इनका आपस में संयोग होता है। तब इन पंचतत्त्वों से एक जगत् पैदा होता है। इन पंच तत्त्वों के संयोग का विवरण इस प्रकार है। आकाश तत्त्व आधा हिस्सा, और बचे आधे का एक चौथाई हिस्सा बाकी चार मिलकर। हर एक तत्त्व को आधा-आधा बाँट लेते हैं, और जो चारों का आधा-आधा शेष बचा उसमें बाकी बचे चार तत्त्वों को मिला दिया। पाँचवें को चौथे, तीसरे, दूसरे, और पहले से मिला दिया। इसे ही पंचीकरण कहते हैं। इस प्रकार इसके कई विभाजन हुये और प्रत्येक से एक वर्ग का निर्माण हुआ। जैसे –

1. आधा हिस्सा आकाश में, आठवाँ हिस्सा अग्नि, जल, पृथ्वी और वायु का मिश्रण, इस मिश्रण से मन और बुद्धि का निर्माण हुआ।
2. आधा हिस्सा वायु और उसमें बाकी चारों का 1/8वाँ भाग मिला देने से ज्ञानेन्द्रियाँ बनीं।
3. आधा अग्नि और बाकी चारों का 1/8वाँ भाग मिला देने से कर्मेन्द्रियाँ बनीं।

फिर इसी प्रकार शरीर आदि बने। उक्त पाँचों तत्त्वों में पुन: मिश्रण होता है। इस तरह तत्त्व आपस में मिलकर स्थूल शरीर को जन्म देते है। शरीर स्थूल है, उससे सूक्ष्म कर्मेन्द्रियाँ, उनसे सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियाँ, उनसे सूक्ष्म मन, तब बुद्धि, उसके बाद पंच-तत्त्व, फिर अहंकार। उनसे सूक्ष्म महत् है, फिर उनसे सूक्ष्म अव्यक्त प्रकृति है, जिसे त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति कहते हैं और सबसे सूक्ष्म है ईश्वर।

परमेश्वर की माया-शक्ति या प्रकृति अपने गुण-बल पर सबसे पहले पाँचों तत्त्वों को मिलाती है। ये पंचतत्त्व सृष्टि में उत्पन्न हाते हैं। इन पंचतत्त्वों का जन्म आत्मा के अलावा और किसी दूसरी शक्ति से नहीं हुआ। उपनिषद् कहती है कि यही आत्मा जल और वायु को धारण करती है। अब पुन: प्रश्न उठता है कि क्या कुम्हार और मिट्टी की तरह परमेश्वर और उसकी प्रकृति या अभिव्यक्ति दोनों अलग-अलग दो तत्त्व हैं जिनसे सृष्टि बनी? क्या एक बनाने वाला था, जिसने कहीं से वस्तुएँ इकट्ठी करके सृष्टि का निर्माण किया?

शास्त्रों में इस पर अनेक मत व्यक्त किये गये हैं। एक जगह कहा गया है कि ज्ञान के दायरे की सभी वस्तुएँ और लोक उस परमेश्वर का नि:श्वास है। दूसरी जगह कहा गया है कि जिस प्रकार अंगार से चिनगारी फूटती है, उसी

प्रकार यह व्यक्त सृष्टि उसी परमेश्वर से फूट कर निकली है। यह भी कहा गया है कि सृष्टि की सभी वस्तुएँ उसी की हैं, बल्कि उसी से उद्भूत हैं, और उसी में लय हो जाने वाली हैं, जैसे मकड़ी अपने अन्दर से जाली निकालती है और पुन: उसे अपने ही भीतर समेट लेती है, पर उपनिषद् को ये सभी तर्क मान्य नहीं हैं। वस्तुत: जैसे जादूगर अपनी माया या सम्मोहन-शक्ति के द्वारा बिना किसी आधार के अनेकों वस्तुएँ उत्पन्न करता है और पुन: समाप्त कर देता है, ठीक उसी प्रकार यह सृष्टि परमेश्वर की माया से उत्पन्न हुई है। बृहदारण्यक उपनिषद् में इस प्रकार का एक प्रश्न आया है।

अब यह विचार करना है कि पुरुष और प्रकृति या ब्रह्म और माया दो हैं या एक। इसका निराकरण उपनिषद्, सांख्य, और परम्परागत योगशास्त्र ने अलग-अलग ढंग से किया है। योग दर्शन में महर्षि पतंजलि ने तो द्वैतवाद की सम्पुष्टि की है। उन्होंने पुरुष, प्रकृति और जीव, इन्हें सनातन तत्त्व माना है। पर सांख्य ने पुरुष और प्रकृति को उभौ अनादि कहकर द्वैतवाद की पुष्टि की है।

जब प्रकृति और पुरुष का वर्णन आता है तो ऐसा लगता है कि ये दोनों दो वस्तुएँ हैं, पर इन्हें जब वैज्ञानिक ढंग से देखते हैं या दार्शनिक पद्धति से विचार करते हैं, तो ऐसा लगता है कि वे एक ही हैं। एक जगह सांख्य-सूत्र में लिखा है कि अग्नि और उसका ताप, सूर्य और उसका प्रकाश, तथा जीव और उसके प्राण, ये दो तो कहे जाते हैं पर वास्तव में एक ही हैं। बिना दूसरे के पहला बेकार है। जगद्गुरु शंकराचार्य ने आनन्द-लहरी के प्रथम श्लोक में ही लिखा है 'शिव के बिना शक्ति का अस्तित्व नहीं और शक्ति के बिना शिव की अभिव्यक्ति नहीं।' पुरुष और प्रकृति दोनों अभिन्न हैं। अज्ञानी, या जिन्होंने ज्ञान का अभ्यास अभी प्रारम्भ किया है, उन्हें कभी-कभी दो कह डालते हैं। सांख्य भी कहता है कि पुरुष लंगड़ा है और प्रकृति अंधी। अंधे के कंधे पर सवार होकर लंगड़ा आगे बढ़ता है। प्रकृति जड़ है, और पुरुष चेतन। पर पुरुष चेतन होते हुए भी निष्क्रिय है और प्रकृति जड़ होते हुए भी क्रियाशील। उसमें कर्मशक्ति है। इसीलिये पुरुष का चेतन तत्त्व और प्रकृति की क्रियाशीलता लेकर सृष्टि चली है। यही प्रकृति की क्रियात्मकता है और यही है पंचतत्त्वों का पंचीकरण। ये प्राकृतिक ढंग से एक-दूसरे से मिलते हैं, और एक क्रिया उत्पन्न होती है जिसे घर्षण कहा जाता है। इससे एक तीसरी वस्तु उत्पन्न होती है। यह प्रकृति का परिणाम हुआ।

संसार में दो अनादि सत्य हो नहीं सकते। यदि हैं तो उन दोनों को एक क्यों न माना जाए। यह तो गणित का साधारण नियम है। उपनिषद् को यह मान्य नहीं है कि परमेश्वर एक सूक्ष्म तत्त्व है जो प्रकृति का सहारा लेकर सृष्टि करता है।

'ब्रह्मसूत्र' में कहा गया है कि परम पुरुष इस जगत् का कारण है, प्रकृति उसका कारण नहीं। वेदान्त के अनुसार प्रकृति तो है, पर प्रकृति उसका कारण नहीं हो सकती, यह ईश्वर के अन्दर से पैदा हुई है। पाँच तत्त्व, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, और शरीर की जो अनेकता हमें दिखती है, वह परम-पुरुष में ही माया के कारण दिखती है। ज्ञान की प्राप्ति होते ही यह भेद मिट जाएगा।

यजुर्वेद की उनचालीस संहिताओं तक यह कहा गया था कि अनेक देवी-देवता, इस जगत् के भिन्न-भिन्न पहलुओं को पैदा और उन पर शासन करने वाले हैं। पर यहाँ कहा गया है कि ये देवी-देवता भी उसी परमेश्वर की अभिव्यक्ति हैं।

आत्मा को बुद्धि से नहीं समझा जा सकता है। उसके लिये अनुभव आवश्यक है। रसगुल्ले के ऊपर पुस्तक पढ़ने से उसका वास्तविक ज्ञान नहीं हो सकता। छान्दोग्य-उपनिषद् में गुरु ने शिष्य से कहा था कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को ब्रह्ममय समझकर अपने हृदय के अन्दर उसकी साधना करो, तब उसका अनुभव होगा। आत्मा परम सत्य है। वह अनुभवी के लिये निकट-से-निकट है, और अज्ञानी के लिये दूर-से-दूर। जो विषयों में डूबे रहते हैं, उनके लिये दूर और जो आत्मा में रमण करते हैं उनके लिये निकट। वह अपनी आत्मा है, इसलिये उसका साक्षात्कार अपने अन्दर होता है। जल और तरलता दो वस्तु नहीं। उसी प्रकार जीवात्मा और ब्रह्म, दो नहीं, एक ही है। जब उसे अपने से अलग ढूँढने की चेष्टा करते हैं तब वह दूर चला जाता है, और जब अपने को ही परमेश्वर के रूप में देखना चाहते हैं, तो वह नजदीक हो जाता है।

आत्मा का अनुभव पाने वाला स्वयं ईश्वर या ब्रह्म हो जाता है। 'जानत तुमहि तुमहि होई जाई।' हमारे शरीर, इन्द्रियों या विचारों का अन्त एक-न-एक दिन होगा ही पर आत्मा सब दिन रहेगी। वह अपने अन्दर और बाहर सभी वस्तुओं को व्याप्त किये है। हमारे चारों ओर आत्म-चेतना का एक सागर-सा लहरा रहा है, जो अदृश्य है। इसके बीच मनुष्य ठीक उसी तरह है जैसे पानी में मछली।

जिस आत्मा के बारे में इतनी बातें कही गई हैं, वह इस जगत् में सर्वव्यापक तत्त्व की तरह रमी हुई है। संसार के विभिन्न मतों में इसके बारे में अलग-अलग ढंग से कहा गया है। उन सब की अपनी तार्किक व्याख्या चाहे जो भी हो, पर वेदान्त ने इसके विषय में निश्चित मत निकालकर रख दिया है। उसके अनुसार व्यक्त जगत् के पीछे एक अदृश्य सत्ता है, जो सत, चित् और आनन्द के रूप में व्याप्त है।

आत्मा सत् है, क्योंकि यह तीनों कालों में समान रूप से कायम है। इसमें कोई परिवर्तन नहीं है। वह सृष्टि के पहले थी, अभी भी है और बाद में भी रहेगी। मूल-चेतना जड़ वस्तु के अन्दर छिपी रहती है। शरीर के अन्दर चेतन-शक्ति कुण्डलिनी के रूप में छिपी रहती है, जिसे हम सूक्ष्म-ब्रह्माण्डीय शक्ति कहते हैं। उसी प्रकार यह शक्ति समष्टि स्तर पर ब्रह्माण्डीय शक्ति के रूप में रहती है। यह चेतना व्यक्तिगत चेतना से भिन्न है। यह ऊर्ध्व गति से चलती है। इसीलिये हमारे यहाँ मोक्ष के लिये ऊपर देखा जाता है। चेतना के दो रूप हुये – एक प्रत्यक्ष-रूप तथा दूसरा मूल-रूप। शरीर का चलना-फिरना, चेतना नहीं बल्कि उसका स्फुरण-मात्र है। चेतना ऊर्ध्वगति से पानी के बुलबुले की तरह ऊपर की ओर बढ़ती है। शक्ति का मार्ग ऊर्ध्वरेता है। यह दो प्रकार की होती है। देवी भागवत में इसे चिद्रूपिणी या चिद्स्वरूपा कहा गया है। अपने शरीर के अन्दर की शक्ति को कुण्डलिनी तथा जगत् की शक्ति को देवी कहा गया है। दोनों मिलकर शक्ति कहलाती हैं, और दोनों आपस में भिन्न नहीं हैं।

शिव जीव की प्रथम अवस्था है। यह उत्फुल्लता की स्थिति है। शिव जीवन रूपी वृक्ष का बीज है और जीव अंकुर। 84 लाख योनियाँ उसकी टहनियाँ हैं। पुष्प संत और ज्ञानी हैं, तथा बीज उसकी परिणति, मोक्ष है।

शिव सृष्टि का मूल है। इसी से जगत् की उत्पत्ति हुई है। जब शिव अपने घर को, अपने आनन्द-स्वरूप को, अपने अव्यक्त, निराकार, निर्वेग, निरंजन और निर्गुण स्वरूप को छोड़कर धीरे-धीरे पंच-तत्त्वों के मेल से अंकुरित होता है, तब वह उसके आनन्द की अवस्था है। एक दूसरी अवस्था मोक्ष की है, जब बीज फिर बीज बन जाता है।

एक बूढ़े साधु थे, मुहावरे बुझाते थे। उनका एक मुहावरा यहाँ उद्धृत करना अनुचित नहीं होगा। वे पूछा करते थे –'शिव कौन? जीव कौन? शिव का स्वरूप कौन? सोवन में जागे कौन? वाद छन्द लागे कौन? कौन में कौन समाया है? कहत निपट निरंजन, इतना नहिं बूझे, तो क्या झख मारि के नर देह पाया है।'

ब्रह्म के तीन स्वरूप हुए– सत्, चित् और आनंद। इसकी प्राप्ति कर साधक को मोक्ष की प्राप्ति होती है। वह अपने पुराने स्वरूप में विराजने लगता है, जहाँ से वह प्रकट हुआ था। जीवन निरन्तर विकास करता-करता महान् हो जाता है।

पुरुष और तत्त्व एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में ऐसी एक चर्चा आयी है, जहाँ कहा गया है कि जल ही जिसका शरीर है, जो जल के अंदर प्रविष्ट होकर, उसका नियंत्रण करता है पर जल नहीं जानता, वह आत्मा नित्य है, अंतर्यामी है। जो अग्नि के अन्दर रहकर उसका नियंत्रण करता है, उसी प्रकार जो शरीर में है और जिसका शरीर है, पर यह शरीर जिसे नहीं जानता, वही अंतर्यामी आत्मा सबों में ओत-प्रोत होकर सब पर शासन करता है।

एक बार राजा जनक ने अपने दरबार में घोषणा की कि जो सबसे विद्वान् हो, वह स्वर्ण-मंडित सींग वाली दस हजार गायों को हाँक कर ले जा सकता है। वहाँ जितने उपस्थित विद्वान् थे, सब शांत बैठे रह गये। इतने में महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य को आदेश दिया कि गौवों को हाँककर ले चलो। बस फिर क्या था, दरबार में शास्त्रार्थ की झड़ी लग गई। एक-एक कर विद्वान् उठने लगे और उन्होंने अनेकों प्रश्न याज्ञवल्क्य से पूछा। महर्षि ने सबों का उत्तर देकर उन्हें संतुष्ट किया। अन्त में उस युग की सबसे विदुषी गार्गी ने उठकर प्रश्न करना प्रारम्भ किया।

उन्होंने याज्ञवल्क्य से पूछा, 'इस पृथ्वी में कौन-सी वस्तु ओत-प्रोत है?' याज्ञवल्क्य ने कहा, 'जल।'

गार्गी – 'और जल में?'

याज्ञवल्क्य – 'अग्नि।'

गार्गी – 'अग्नि में?'

याज्ञवल्क्य – 'वायु।'

गार्गी – 'वायु में?'

याज्ञवल्क्य – 'आकाश।'

गार्गी – 'आकाश में?'

याज्ञवल्क्य – 'महत्'

गार्गी – 'महत् में?'

याज्ञवल्क्य – 'अहंकार।'

गार्गी – 'अहंकार में?'

याज्ञवल्क्य – 'मूल प्रकृति।'

गार्गी – 'मूल प्रकृति में?'

याज्ञवल्क्य – 'अव्यक्त।'

गार्गी ने पुनः पूछा, 'अव्यक्त किस चीज से बना है?'

इस पर याज्ञवल्क्य ने आवेश में कहा था, 'गार्गी अब अतिप्रश्न हो रहा है। अव्यक्त अकारण-कारण है। यह सभी का कारण है पर इसका कोई कारण नहीं हो सकता।' इसी अव्यक्त का जब धीरे-धीरे विकास होता है तो जगत् बनता है। यही तत्त्व जब अव्यक्त था, तो परमात्मा कहलाया और व्यक्त होने पर सृष्टि। यदि सृष्टि से इस आत्म-तत्त्व को निकाल लिया जाए तो कुछ भी शेष नहीं बचेगा। आत्मा हमारे अन्दर और बाहर दोनों है। यहाँ अन्दर और बाहर दो विशेष अर्थ रखते हैं। जब चेतना की सात अंतरंग भूमिकाओं में व्यक्तिगत चेतना जाती है तो उसे अन्दर और जब बाहर आती है, बहिर्मुख हो जाती है, तो उसे बाहर कहा जाता है। उस अंतरंग भूमिका को आध्यात्मिक चेतना कहते हैं और जब बहिर्मुख हो जाती है तो उसे वासना के लोक कहते हैं। जीवात्मा अपने कर्मवश इन चौदह लोकों में जाती है। अपने कर्म, विचार और संस्कार के अनुकूल लोकों को प्राप्त होती है।

इन्द्रियाँ जीवात्मा के बंगले की खिड़कियाँ हैं, जिनके द्वारा जीवात्मा बाहर झाँकती है। चेतना को बहिर्मुख करना इन इन्द्रियों का काम है।

इस मंत्र ने एक नई विचारधारा हमारे सामने रखी। आत्मा अन्दर ही है। आनन्द की आधारशिला अपने भीतर छिपी है। इसे जानने के लिये न तो कहीं जाना है और न किसी बाहरी ज्ञान की आवश्यकता है। वह तो स्वयं ज्ञानस्वरूप है। केवल उस पर थोड़ा-सा अज्ञान का पर्दा चढ़ जाता है। आवश्यकता है अज्ञान के पर्दे को हटाने की, न ज्ञान प्राप्त करने की। ज्ञान महान् है। वह अज्ञान से बड़ा है, पर जैसे बादल का छोटा-सा टुकड़ा सूर्य को ढक लेता है उसी तरह अज्ञान छोटा होने पर भी ज्ञान पर आवरण डालने में सक्षम है। आत्म ज्ञान मानव-मात्र का स्वभाव है, पर वह उस शराबी की तरह है जो सांसारिक भोगों के नशे में अपने सच्चे स्वरूप को भूल गया है। यह देहासक्ति और वासना तभी तक है, जब तक हमें आत्म-स्वरूप का दर्शन नहीं हो जाता। साधना पक्ष में ज्ञान प्राप्ति नहीं अज्ञानता की निवृत्ति होती है। अज्ञानता विवेक से जाती है। विवेक योग से जगता है। योग अभ्यास से सिद्ध होता है और अभ्यास कर्म से।

षष्ठ मंत्र

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥6॥

अन्वय एवं शब्दार्थ

तु= परन्तु, *यः*= जो मनुष्य, *सर्वाणि*= सम्पूर्ण, *भूतानि*= प्राणियों को, *आत्मनि*= आत्मा में, *एव*= ही, *अनुपश्यति*= निरन्तर देखता है, *च*= और, *सर्वभूतेषु*= सम्पूर्ण प्राणियों में, *आत्मानम्*= आत्मा को, *ततः*= उसके पश्चात्, *न विजुगुप्सते*= किसी से घृणा नहीं करता।

अनुवाद

जो मनुष्य समस्त प्राणियों को आत्मा में देखता है और सम्पूर्ण प्राणियों में आत्मा के ही दर्शन करता है, वह किसी से घृणा नहीं करता।

व्याख्या

जिस समय साधक सब जीवों में आत्मा के दर्शन करता है, उस समय उसका जीवन के प्रति, वस्तुओं के प्रति, जगत् के प्रति दृष्टिकोण ही बदल जाता है। ज्ञान प्राप्ति के बाद जड़ और चेतन का भी भेद मिट जाता है। वास्तव में जड़ और चेतन में कोई भेद नहीं। जड़ में चेतन है और चेतन में जड़। जड़ चेतन की अभिव्यक्ति है और चेतन जड़ का मूल।

यह मंत्र ब्रह्म-ज्ञान की पूर्व-अवस्था का वर्णन करता है। इस अवस्था में मनुष्य अभेद दृष्टि को प्राप्त करता है, अवधूत हो जाता है।

एक बार आदिगुरु शंकराचार्य अपने दिग्विजय के सिलसिले में काश्मीर पहुँचे। अनेक लोगों ने उनके दर्शन किये। एक किसान भी अपनी जिज्ञासाओं को लेकर उनके सम्मुख उपस्थित हुआ। उसका एक लड़का था जो उम्र से

तो सयाना हो चुका था, पर कुछ बोलता नहीं था। बच्चों के साथ खेलता था, और स्वयं बच्चों जैसा व्यवहार करता था। किसान अपने पुत्र की अवस्था देखकर बड़ा चिंतित था, और उसने जगद्‌गुरु से इसलिये भेंट की थी कि वे उस लड़के के विकास के लिये कुछ कर सकेंगे। जगद्‌गुरु ने किसान की बात सुनने के बाद उसे अपने लड़के को अपने सम्मुख उपस्थित करने को कहा। जब लड़का उनके सामने आया तो आदि जगद्‌गुरु ने प्रश्न किया – *'कस्त्वं?'* लड़के ने उत्तर दिया –

नाहं मनुष्यो न च देवयक्षौ
न ब्राह्मण न क्षत्रिय वैश्यशूद्राः ।
न ब्रह्मचारी न गृहीवनस्थो
भिक्षुर्न चाहं निजबोधरूपः ॥

इतना सुनने के बाद आदि शंकराचार्य ने कहा कि चिन्ता की कोई बात नहीं है, और न कुछ करने की आवश्कयता ही है। यह लड़का अवधूत की स्थिति को प्राप्त कर चुका है। किसी कारणवश केवल अपना भोग भोगने के लिये ही इसने मनुष्य देह में जन्म लिया है।

तो दृष्टि दो प्रकार की होती है, एक भेद बुद्धिवाली और दूसरी अभेद दृष्टि। भेद-बुद्धि से ही वस्तुओं के पारस्परिक अन्तर को जाना जाता है। इन्द्रियाँ भेद-बुद्धि को जन्म देती हैं और मन एवं बुद्धि के संयोग से वस्तुओं का निर्णय करती हैं। सुगन्ध और दुर्गन्ध भी इन्द्रियाँ ही देती हैं। आध्यात्मिक जगत् में जब भेद-दृष्टि समाप्त हो जाती है और अभेद दृष्टि की जागृति होती है, तो इन्द्रियों का क्रिया-कलाप भी शांत हो जाता है। उस समय सुगन्ध और दुर्गन्ध का भी भेद मिट जाता है। इस स्थिति को वेदान्त में समभाव या अभेद-दर्शन कहते हैं।

प्रत्येक वस्तु के मुख्यत: दो रूप होते हैं, एक माया-रूप और दूसरा ब्रह्म-रूप। किन्तु ब्रह्म-रूप अदृश्य होता है। माया रूप को ऐन्द्रिक-रूप और ब्रह्म रूप को इन्द्रियातीत रूप भी कहते हैं। ब्रह्म-ज्ञानी इन्द्रियातीत रूप को ही देखते हैं। हमलोगों का माया-रूप अलग-अलग है, किन्तु मायातीत रूप में कोई भेद नहीं है। वह मनुष्य की चेतन सत्ता होती है, फिर उसमें भेद कैसे होगा?

मनुष्य की दृष्टि उसके अपने अभ्युत्थान के अनुकूल होती है। कोई शरीर देखता है, कोई बुद्धि, तो कोई प्रतिभा। किसी को धन ही दिखता है, तो किसी को आत्मा। जब तक मनुष्य माया-लोक में रहता है तब तक उसे भेद-दर्शन

होता है। पर ब्रह्म ज्ञान के बाद उसका स्वभाव और जीवन के प्रति मूल्यांकन की दृष्टि ही बदल जाती है। घृणा की भावना का अन्त हो जाता है। घृणा मानसिक विकार है। यह मनुष्य के व्यक्तित्व की परछाई कही जा सकती है। जब हम किसी से घृणा करते हैं तो यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि वह सचमुच घृणा का पात्र है।

प्रत्येक मनुष्य के अंतस्तल में उसकी अपनी भावना दबी रहती है, जो एकान्त में समय पाकर ऊपर उठती है और उस समय हम आत्म-विश्लेषण करके उसका अन्दाज लगा सकते हैं। अपराध की भावना यदि अदृश्य-रूप से किसी कारण हमारे भीतर दबी पड़ी रह गई तो कभी अवसर पाकर वह ऊपर उठती है, और हमारे अन्दर घृणा की भावना पैदा कर देती है।

आत्मज्ञानी अपने चित्त को साफ कर लेता है, इसलिये उसके अन्दर अपराध की भावना नहीं रहती है, और स्वभावत: वह दूसरों से घृणा नहीं करता। दूसरों की बुराई कोई तभी करता है, जब उसके अन्दर भेद दृष्टि रहती है, किन्तु यदि उस व्यक्ति को अभेद दर्शन हो जाए तो आखिर घृणा करेगा किससे?

घृणा से घृणा शान्त नहीं होती। जो प्रेम करना जानता है, जीत उसी की होती है। यह आध्यात्मिक और सामाजिक सत्य है। प्रेम का भाव भरना, और घृणा का भाव दूर करना, यह आत्मभाव की अभिव्यक्ति है। केवल अपने को ब्रह्म मानने से कोई ब्रह्म नहीं हो जाता। संकल्प तो करना ही चाहिये, पर उसके लिये आत्मभाव का विकास भी आवश्यक है। मानसिक एवं सामाजिक स्वच्छता, आनन्द और सफल जीवन के लिये यह आवश्यक है कि हम दूसरों के प्रति घृणा का भाव न रखें। शत्रु के प्रति भी मित्रता का भाव रखें। आलोचना, अधर्म एवं दुर्व्यवहार का प्रतिकार नहीं किया जाए और मात्र अपने संकल्प पर दृढ़ रहा जाए। कुछ दिन ऐसा व्यवहार करने पर स्वत: यह गुण जीवन का एक अंग बन जाता है और ब्रह्मज्ञान की भावना का उत्तरोत्तर विकास होने लग जाता है।

उपरोक्त गुण जीवनमुक्त महापुरुषों के हैं।

सप्तम मंत्र

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥7॥

अन्वय एवं शब्दार्थ

यस्मिन्= जिस स्थिति में, *विजानतः=* अनुभव में, *सर्वाणि=* सम्पूर्ण, *भूतानि=* प्राणी, *आत्मा=* आत्मा, *एव=* ही, *अभूत्=* हो चुकते हैं, *तत्र=* उस, *एकत्वम्=* एकता का, *अनुपश्यतः=* निरन्तर साक्षात् करने वाले पुरुष के लिये, *कः=* कौन सा, *मोहः=* मोह, *कः=* कौन सा, *शोक=* शोक।

अनुवाद

जिस अवस्था में सम्पूर्ण प्राणियों में आत्मा के ही दर्शन होने लगते हैं, उस स्थिति में मोह और शोक की समाप्ति हो जाती है।

व्याख्या

यह अवस्था ब्रह्मज्ञान या विदेह-मुक्ति की है। ब्रह्मश्रोत्रीय और ब्रह्मज्ञानी में अन्तर है। शायद ही किसी युग में कोई ब्रह्मज्ञानी आता है। उनका गुण और स्वभाव ही भिन्न होता है। इस ज्ञान के सामने संसार की सारी संपदा समाप्त हो जाती है। जब ब्रह्मज्ञानी हमारे बीच आता है तो एक विलक्षण प्रभाव पड़ता है। उसकी शक्ति असीम होती है, जिसे हम ईश्वर की चलती-फिरती शक्ति ही कह सकते हैं। ब्रह्मज्ञानी सब के शरीर को अपना शरीर समझता है। उसके हृदय में करुणा और अनुकम्पा का सागर उमड़ता रहता है। जिस युग में ब्रह्मज्ञानी होता है वह आज की तरह रोता नहीं।

इसके पूर्व मन्त्र में जीवनमुक्त की चर्चा आयी और यहाँ विदेहमुक्त की। दोनों में बड़ा अन्तर है। जीवनमुक्त महापुरुष को लोक और अलोक, दोनों

का ज्ञान रहता है। पर साधारण व्यक्ति से वे भिन्न रहते हैं। जहाँ हमें जगत् के प्रति आसक्ति रहती है, वहाँ जीवनमुक्त अनासक्त भाव से संसार में रहते हैं। दुनिया उन्हें दिखलाई देती है, पर वे दुनिया को मानते नहीं। जीवनमुक्त अन्दर रहकर भी एक झरोखे से बाहर झाँकते हैं, आत्मा में रमण करते हुये भी, उन्हें जगत् का क्वचित् अनुभव होता रहता है।

पर विदेहमुक्त को केवल आत्मा का ही अनुभव होता है, जगत् का नहीं। रात के सपनों में हम अनेक दृश्यों को देखते हैं पर जागने पर सब भ्रम प्रतीत होता है, ठीक उसी तरह विदेहमुक्त को संसार में रहकर भी संसार की अनुभूति नहीं होती।

जीवनमुक्त होने पर घृणा का अन्त हो जाता है, और विदेहमुक्त होने पर मोह और शोक चले जाते हैं। उन्हें एकत्व के दर्शन होते हैं। जीवनमुक्त को आत्म-ज्ञान होने पर भी प्रारब्ध-कर्म का लेश रह ही जाता है और उन्हें उसका क्षय करना पड़ता है। पर विदेहमुक्त प्रारब्ध कर्म को समाप्त कर देते हैं, वे इससे परे होते हैं। विदेहमुक्त में भी एक उच्च स्थिति होती है। वह राजा जनक की सी अवस्था है। यह उच्च अवस्था प्राप्त हो सकती है। कर्मयोगी जब इस अवस्था को प्राप्त करता है तो वह जगत् में ब्रह्म का अनुभव करता है। विदेहमुक्त होने पर एक ऐसी अवस्था होती है जब आत्मा में प्राणी है या प्राणी में आत्मा है, ऐसा नहीं बल्कि समस्त प्राणी आत्मा ही है, ऐसा अनुभव होने लगता है।

इसके पूर्व मंत्र की अवस्था को हम सम-भाव कह सकते हैं, पर इसे अंतर-भाव कहा जायेगा। पहली अवस्था में थोड़ा द्वैत रहता है। वहाँ आत्मा और प्राणी, दोनों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। प्रकृति में पुरुष और पुरुष में प्रकृति का अनुभव करते हैं। पर जब यह कहा जाए कि पुरुष ही प्रकृति है और प्रकृति ही पुरुष, तो समझना चाहिए यह अद्वैत की ऊँची अवस्था है।

जब साधक की चेतना ज्ञान की सप्त भूमिका से पदार्थ-भावना या यूँ कहें कि मूलाधार से सहस्त्रार तक की यात्रा समाप्त कर चुकी होती है तो वह तुरीय पद को प्राप्त करता है और तब गहना और सोना का भी भेद मिट जाता है।

शोक है क्या? शोक एकाकीपन के कारण उत्पन्न मन की एक व्यथामय अवस्था है। योग या भारतीय मनोविज्ञान के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जीवन की गति का आधार ही शोक है। मनुष्य की जितनी भी क्रियाएँ, चेष्टाएँ या विचार होते हैं, उनका उद्‌भव ही एक अदृश्य शोक से होता है।

यह बीज-रूप में हमारे अन्दर विद्यमान रहता है। अनादि वासना के कारण यह भूत की तरह मनुष्य का पीछा करता है। मनुष्य के शोक का प्रत्यक्ष कारण चाहे जो भी हो, पर वास्तविक कारण वही नहीं जो हम अपनी आँखों से देखते हैं।

जीव का एकाकीपन जगत् में उसके आने के साथ ही आया। जब वह खनिज, या वनस्पति, या यूँ कहें कि मूल-प्रकृति की अवस्था में था, तब भी एकाकीपन का अनुभव कर रहा था। जब सृष्टि की बीज अवस्था में था तब तो उसे एकाकीपन था ही और जब विकास की परम्परा में वह खनिज हो गया तब भी एकाकी था। पत्थर और पहाड़ भी एकाकी अवस्था में रहते हैं। पत्थरों में भी जीव है, केवल उसका विकास नहीं हुआ। धीरे-धीरे उसका आध्यात्मिक विकास होता है और वनस्पति शरीर को प्राप्त करता है, तब भी एकाकी ही रहता है। जब वह निम्न पशुओं की अवस्था में आता है तो अपने एकाकीपन को तोड़ने के लिये कुछ स्वाभाविक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति करता है। जैसे-जैसे वह अपने अन्दर इन्द्रियों की क्षमता को प्राप्त करता है, वैसे-वैसे आहार, निद्रा, भय और मैथुन के द्वारा अपने एकाकीपन को दूर करने का अथक प्रयत्न करता है। जीव के क्रमिक विकास के साथ-ही-साथ जीव को विभिन्न स्तरों पर इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं, कोई एकेन्द्रिय होता है तो किसी की दो, तीन, चार या पाँच इन्द्रियाँ विकसित होती हैं। पर इन इन्द्रियों के द्वारा सहज-स्वाभाविक रूप से अपने एकाकीपन को दूर करने के प्रयत्न के बाद भी उसका शोक दूर नहीं होता।

मनुष्य योनि में आकर इस एकाकीपन को दूर करने के लिये वह समाज, प्रेम और मित्रता का निर्माण करता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में ऐसी चर्चा एक जगह आयी है जहाँ कहा गया है कि जब जीवात्मा ने सृष्टि में अपना पूर्ण स्वरूप देखा तो उसे लगा कि मैं अकेला हूँ। उसे दूर करने के लिये उसने दो बनना चाहा और तब उसने अपने को ही दो भागों में विभक्त किया। उसे इस एकाकीपन का कारण मालूम नहीं था। जीव आत्मा से बिछुड़कर इधर-उधर भटकता रहा और इस क्रम में उसने सहज भाव से उस एकाकीपन को दूर करने के लिये कुछ उपाय रचा पर यह दूर हो नहीं सका। वह निरन्तर शोकाकुल बना रहा। पशु-योनि में उसे न तो शोक की व्यथा का ही अनुभव होता था और न उस एकाकीपन को व्यक्त करने का अवसर ही था। कुत्ते में भी एकाकीपन होता है और वह उसे दूर करने के लिये अपने मालिक का प्रेम

चाहता है, उसे आकर्षित करता है। मनुष्य को इसका साफ पता तो तब चला जब वैसे अनुभवी व्यक्ति के पास गया जिसने अपना एकाकीपन तोड़ा था। उसने कहा, 'हे मानव, तुम तब तक एकाकी रहोगे, जब तक तुम्हें तुम्हारा साथी नहीं मिल जाता। तुम्हारा वह साथी तुमसे स्वयं भिन्न नहीं, अत: अपने से प्रेम करना सीखो।'

एक बार एक सूफी संत अकेले में बैठा था। एक व्यक्ति ने आकर पूछा कि आप अकेले क्यों बैठे हैं। संत ने उत्तर दिया कि अब तक मैं अपने यार के साथ था, जब तुम आये तो वह चला गया और मैं अकेला हो गया।

जब तक मनुष्य इन्द्रिय-जगत् में रहता है, अकेला रहता है, पर जब वह अन्तर्मुख होकर अपने अंदर गोता लगाता है, जहाँ उसका एकीकरण उसकी अन्तरात्मा से होता है, तब सब एकाकीपन दूर हो जाता है। जब मनुष्य एकत्व का दर्शन करता है तो उसका शोक दूर हो जाता है। इसी एकीकरण के बारे में स्वामी शिवानन्द कहा करते थे, 'पहले मुझे लगता था कि मेरा साथी सदैव मेरे साथ रहता है, पर बाद में मुझे पता चला कि अपना साथी तो स्वयं मैं ही हूँ।' शोक का सीमित और गलत अर्थ नहीं लगाना चाहिये। यह मनुष्य के जीवन की आंतरिक व्यथा है। कभी-कभी यह शोक इतना तीव्र हो जाता है कि उससे वैराग्य उत्पन्न होने लगता है, ठीक बुद्ध की तरह का वैराग्य।

जीवात्मा जब परमात्मा से अलग प्रतीत होने लगती है और वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूल कर विजातीय सत्ता के बीच रहने लगती है, तब उसे शोक होता है। जब मनुष्य अपने जीवन के शोक को पहचान लेता है, तो उसे एकता का अनुभव होने लग जाता है।

जीवन की अधिकतर अनुभूतियाँ, चाहे वे स्थूल इन्द्रियों पर आधारित हों या न हों, उनका आधार बाहरी अनुभव ही होते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तो प्रत्यक्ष ही इन्द्रियों की अनुभूतियाँ हैं। विचार इनसे सूक्ष्म हैं, पर वह भी मन की अभिव्यक्ति हैं। इन्द्रियों की अनुभूतियों की अपेक्षा ये कुछ सूक्ष्म तो हैं पर इनका भी सम्बन्ध बाहर से ही है। स्मृति इससे भी सूक्ष्म है, पर इसका भी आधार पुरानी घटनायें हैं, जो बाहरी हैं। इसके बाद स्वप्न आता है, पर क्या यह आन्तरिक अनुभूति है? तर्क से पता चलता है कि स्वप्न अपने आप नहीं होता। इसका भी आधार मनुष्य के जीवन के विचार, अनुभूतियाँ या घटनायें ही होती हैं। ये बहिर्गम्य अनुभूतियाँ बहिर्मुख वृत्तियों को जन्म देती हैं। आत्मवृत्ति में आत्मा की अनुभूति होती है, जिसका आधार कुछ भी नहीं है।

इसे प्राप्त करने के लिये बाहर की सभी अनुभूतियों को समाप्त करना पड़ता है। इसी को ध्यान, समाधि, या आत्मानुभूति कहते हैं।

आत्मा की अनुभूति एकाएक प्राप्त नहीं होती है। इसका प्रारम्भ प्रत्याहार से होता है, जिसमें अन्तर्मुख होने का अभ्यास किया जाता है। इन्द्रियों को विषयों के क्षेत्र से परान्मुख करना पड़ता है। प्रत्याहार की क्रिया शोक दूर करने की पहली सीढ़ी है। इसके बाद अपने विचारों को दबाना पड़ेगा। स्मृतियों को हटाना पड़ेगा। स्मृतियाँ विचार या किसी स्वरूप के रूप में प्रकट होती हैं। ध्यान की अवस्था में जो ज्योतिपुंज दिखता है, वह भी स्मृति ही है। यह प्रत्यक्ष नहीं भी आ सकती है पर किसी को साथ लेकर आती है। यह चेतना की आकृतिमय अभिव्यक्ति है। इस अवस्था को प्राप्त करने पर शोक और कम हो जाता है। शान्ति गहरी हो जाती है। इसी प्रकार प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की अवस्था प्राप्त होती है। समाधि की अवस्था में एकत्व का अनुभव होने लगता है।

जब साधक का मन, चेतना, भावना और विचार बाहर रहते हैं तो द्वैत का अनुभव होता है और जब वृत्तियाँ अंतर्मुखी हो जाती हैं, जहाँ कुछ भी अनुभव नहीं होता तो उसे आत्मवृत्ति कहते हैं। तब शोक समाप्त हो जाता है।

आधुनिक मनोविज्ञान ने इस बात पर ज्यादा विचार नहीं किया है। इस पक्ष के चिन्तक अभी तक इतनी गहराई तक नहीं जा सके हैं। वे मन की सत्ता को स्वीकार तो करते हैं पर जिस प्रकार योग दर्शन में मन और शरीर को दो अलग-अलग तत्त्व मानते हैं वैसा स्वीकार नहीं करते। आधुनिक मनोविज्ञान का मत है कि मानव मस्तिष्क में एक शारीरिक क्रिया होती है और तब उसके विचारों का उदय होता है। किन्तु योग दर्शन में मन और शरीर नाम के दो भिन्न तत्त्व हैं, जैसे कुर्सी में कील। मनः तत्त्व इस शरीर में ओत-प्रोत है। विचार-प्रेषण और आकाश गमन करके साधकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि मन और शरीर दो भिन्न तत्त्व हैं। पश्चिम के जिन विद्वानों ने इस प्रयोग को किया है, वे अब इस बात को मानने लगे हैं कि मानव-शरीर कोई ऐसी शक्ति है, जिसे देह से अलग करके प्रेषित किया जा सकता है।

शरीर में मनः तत्त्व घुला मिला है, जैसे पानी में नमक। पर जो क्रिस्टलाइज़ेशन के सिद्धान्त को जानते हैं, वे पानी से नमक को अलग कर लेते हैं। जो उसे बाहर प्रेषित करना चाहते हैं, वे उसे शरीर के प्रत्येक अंग से खींचकर किसी एक जगह पर केन्द्रित करते हैं। जिनका हृदय मजबूत होता है,

वे उसे हृदय-स्थल में केन्द्रित करते हैं। अन्य लोग नाभि-चक्र, भ्रूमध्य, या सहस्त्रार में ही केन्द्रित करते हैं।

जब मानसिक शक्ति एक स्थल पर केन्द्रित हो जाती है, चित्त की वृत्तियाँ चारों ओर से सिमटकर एक जगह आ जाती हैं, तब उसे प्राण-शक्ति के रूप में परिणत करना पड़ता है। इसके बाद उसे प्रेषित किया जाता है। इस अवस्था में एक विचित्र घटना घटती है। इस स्थिति में यदि शरीर के किसी अंग में कील भी चुभो दी जाए, तो दर्द नहीं होता। इस क्रिया को कोई मंत्र, चक्र या देवता पर ध्यान करके करते हैं। उस अवस्था में उस देवता, मंत्र या चक्र के सिवा कुछ नहीं रहता। जिन इन्द्रियों को संवेदना होती है, वे ही नहीं रहेंगी तो संवेदना का अनुभव करेगा कौन।

अब एक ऐसी अवस्था की कल्पना कीजिये कि गोंद के सहारे कागज के दो टुकड़े परस्पर चिपके हुए हैं। यदि गोंद में नमी उत्पन्न कर हम कागज के दोनों टुकड़ों को अलग करते हैं, तो एक तीसरी चीज स्वयं अलग हो जाती है, जिसे हम गोंद कहते हैं। शरीर की भी यही अवस्था होती है। जब मन और शरीर अलग होते हैं, तब एक तीसरा तत्त्व भी प्रकट होता है जो एकदम भिन्न तत्त्व है। वह है आत्मा। इस अवस्था में शरीर और आत्मा के बीच जो ग्रन्थि पड़ी रहती है, वह खुल जाती है। यही स्थिति *'एकत्वम् अनुपश्यत:'* की है। कुछ लोग इस मन: शक्ति को केन्द्रित कर विचार-प्रेषण, आकाश-यात्रा, किसी के कष्ट का निवारण आदि कार्य भी करते हैं। साधक संत ऐसा नहीं करते, क्योंकि वह केन्द्रित मन: शक्ति जब ब्राह्म-जगत् में कार्य कर वापस आती है तो दुगुने वेग से शरीर में प्रवृष्ट होती है और देहाध्यास बढ़ जाता है। साधक किसी ब्रह्मगुरु का ही शिष्य क्यों न हो, उसका पतन अवश्यम्भावी है। संत तो इस अवस्था को प्राप्त करने के बाद केवल आत्मा का ही अनुभव करता है। शोक दूर करने के लिये पाँच सीढ़ियों को पार करना पड़ेगा। मन, बुद्धि, इन्द्रिय, स्मृति और सपनों को भी समझाना पड़ेगा। तब एकत्व की अनुभूति सम्भव है।

इस पद्धति को न मानकर पश्चिम के विद्वानों ने शान्ति के लिये अनेक मनोवैज्ञानिक अनुसंधान किये, पर उन्हें अपेक्षित शांति की प्राप्ति नहीं हो सकी।

आधुनिक मनोविज्ञान का इस स्थल पर भारतीय पद्धति से बड़ा मतभेद है। आधुनिक मनोविज्ञान कहता है कि मानसिक कष्ट के कारण का पता लगाये बिना उसका निराकरण संभव नहीं है। पर योग दर्शन के अनुसार

शोक का कारण मालूम नहीं भी हो तब भी दूर किया जा सकता है। मनुष्य के जीवन में शोक के अनेकों कारण होते हैं। उसका कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं होता। इसकी कई शाखायें होती हैं। आधुनिक मनोविज्ञान कहता है कि विश्लेषण करो, पर योग दर्शन कहता है कहाँ तक विश्लेषण किया जावेगा। इस एक शोक का पता लगाने के लिये जासूस की तरह अनेकों जन्मों का पता लगाना पड़ेगा। शोक केवल चिन्ता या मन की व्यथा को ही नहीं कहते, बल्कि आत्मा से चिर-वियोग की अवस्था का नाम शोक है। इसका निराकरण तो एकत्व से ही होगा।

घृणा, शोक और मोह, तीनों बड़े शक्तिशाली हैं। मोह से सभी पीड़ित हैं। वे उसका त्याग करना चाहते हैं, पर छोड़ नहीं सकते। मोह का विषय ही सृष्टि का विषय है। मोह जीवन का एक अभिन्न तत्त्व है। मनुष्य अपने जीवन के एकाकीपन और शोक को दूर करने के लिये किसी-न-किसी वस्तु के साथ अपना सम्बन्ध और संगति स्थापित करता है। जब मनुष्य की किसी वस्तु से निरन्तर संगति बनी रहती है, तो उस वस्तु से उसका एक मानसिक लगाव उत्पन्न हो जाता है। अनेक जन्मों में प्राप्त ऐसे मानसिक लगाव को ही मोह कहते हैं। बिना आत्म-विश्लेषण किये मोह की पराकाष्ठा कोई व्यक्ति समझ नहीं सकता है।

मोह और शोक में केवल थोड़ा-सा अन्तर है। शोक एकाकीपन से उत्पन्न होता है, मोह की उत्पत्ति लगाव से होती है। मनुष्य को सबसे बड़ा मोह उसके जीवन का है। महर्षि पतंजलि ने अपने योग-सूत्रों में कहा है – *स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेश:* (साधना पाद 9) – जीवन का मोह विद्वानों में भी उतना ही रहता है जितना अविवेकी में। प्रत्येक जन्म में हमने जीवन पाया और जीने की हमारी आदत-सी हो गई है। हमारा जीवन के प्रति एक मोह है। हमारे मन की ऐसी एक गति हो गयी है। तमाम मोहों का मुख्य कारण जीवन के प्रति मोह और मृत्यु से भय है। जिस समय आदमी के मन से मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है और उसके लिये जीवन तुच्छ हो जाता है, उसी समय मोह का निराकरण हो जाता है। इसीलिये वेदान्त सबसे पहले देहाध्यास दूर करने पर जोर देता है।

मोह सब में है। कभी-कभी तो यह संतों और महापुरुषों में भी देखा जाता है। किसी वस्तु की लगातार संगति करने से उस वस्तु के प्रति एक राग उत्पन्न हो जाता है। वह व्यक्ति हो या देश, कुछ दिन उनके साथ रहने से उसे छोड़ने

का जी नहीं चाहता। हम उसके प्रति एक अपना विचार बना लेते हैं। यहीं से मोह उत्पन्न होता है। यह एक सम्मोहन की सी अवस्था है। इसका निर्माण मनुष्य स्वयं करता है, किसी के प्रति अपनी एक निश्चित भावना बना लेता है। वह कोई विचार या दर्शन ही क्यों न हो, उससे एक दृढ़ सम्बन्ध उत्पन्न हो जाता है। तब आदमी अपने ही मन द्वारा उत्पन्न एक सम्मोहन की स्थिति में रहने लगता है, और उस भावना का स्वाद अपने मन के अंदर लेने लगता है। मान लिया कि किसी व्यक्ति ने अपने पुत्र के विषय में एक भावना बना ली है और उस पर आधारित अनेक हवाई किले बना लिये हैं। अब उसके मन में उस लड़के की एक भिन्न सूरत उत्पन्न हो जाएगी, जिसका मन में हमेशा चिंतन होने लगेगा। फिर वह राजा के रूप में आयेगा। मस्तिष्क और विचारों की एक गति बन जायेगी। उसके बाद वह सोचे या न सोचे, उस पुत्र के प्रति विचारों की शृंखला रह-रह कर स्वयं मानस-पटल पर उदित होती रहेगी। इस तरह एक दिन मनोविकार उत्पन्न हो जाएगा। यही स्थिति किसी दूसरी वस्तु या विचार के प्रति है। इस मोहजन्य चिन्ता की एक दूसरी भी गति होती है। सोचते-सोचते दिमाग में कष्ट का अनुभव होने लगता है और कुछ देर के बाद उसी वस्तु के प्रति विपरीत विचार मन में आने लगते हैं।

मान लिया कोई संगीतज्ञ है, और अपने विषय में रात को सोचने बैठता है। वह देखेगा कि भोर होते-होते ख्यालों की दुनिया में विश्व का प्रसिद्ध संगीतज्ञ बन जाता है। उसकी कल्पना एक असंभव ऊँचाई तक पहुँच जाती है। इसके बाद सबेरे जब कल्पना की दुनिया से वापस आता है तो अपने को जहाँ का तहाँ पाता है। जीवन में निराशा और असंतोष का सामना करना पड़ता है। यह मोह की प्रतिक्रिया हुई। अचेतन वृत्ति अंतरात्मा में तुलना करती है। मन को अनायास एक धक्का लगता है और आदमी विक्षिप्त-अवस्था को प्राप्त करता है।

कभी फुरसत की घड़ियों में मन में कई विचार आते हैं। इनमें कुछ इतने प्रबल होते हैं कि हटाये भी नहीं हटते। यह वृत्ति इतनी प्रबल होती है कि आदमी इसमें बह जाता है। पन्द्रह-पन्द्रह दिनों तक एक ही विचार मन में चक्कर काटते रहता है। कभी तो ये विचार मानस-तरंगों पर महीनों डूबते-उतराते रहते हैं। यदि किसी के जीवन में ऐसी घटना घटे तो समझना चाहिये कि निकट भविष्य में उसके साथ मानसिक दुर्घटना होने वाली है। इस अवस्था में चित्त की वृत्ति इतनी अंतर्मुख हो जाती है कि वह व्यक्ति दुनिया के काम

का रह ही नहीं जाता। जीवन की सारी आशायें समाप्त हो जाती हैं। वह चुप मारकर केवल बैठा रहता है। यदि किसी ने कुछ कहा, तो किया, नहीं तो कुछ नहीं। अपने शरीर को सम्भालने में असमर्थ हो जाता है। यदि ऐसा कोई व्यक्ति मिले तो समझना चाहिये कि वह इन्हीं उपरोक्त अवस्थाओं का शिकार रहा होगा। ऐसा व्यक्ति रुक-रुक कर बातें करेगा और बीच-बीच में बिना प्रयोजन ही उन्हीं बातों को बोलेगा जिसके विचार उसके मस्तिष्क में चक्कर काटते थे। यदि ऐसी अवस्था हल्की रही तो सत्संग, ज्ञान और तप से दूर हो सकती है, पर यदि कहीं गहरी हो गयी तो उसका निवारण स्वयं ईश्वर ही करें या कोई उच्च कोटि के संत अपने आशीर्वादों के सहारे करें।

मोह से मुक्ति का यह अर्थ नहीं कि कोई अपना परिवार या मानवोचित कर्त्तव्य छोड़ दे। यदि कोई परिवार के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करता है तो वह मोह नहीं है। पर हाँ, यदि हमेशा उसी के बारे में सोचता रहता है, सिवाय उसके और कुछ सूझता ही नहीं तो वह अवश्य ही मोह है। मोह का सम्बन्ध राग से है, गलत धारणाओं से है, करुणा और सेवा से नहीं। इसीलिये वेदों में कहा गया है कि मोह का कारण सम्पत्ति, संतति, दारा और पुत्र नहीं हो सकते। मोह का कारण तो हमारी आँखों का चश्मा है, जिससे हम देखते हैं और वस्तु का मूल्यांकन करते हैं। मोह और सेवा में अन्तर है। दो व्यक्तियों का पारस्परिक सम्बन्ध मोह से नहीं लिया जाता है। धनोपार्जन करना स्वयं मोह नहीं हो सकता है। आवश्यकता तो है कि उसके मन में तदाकार वृत्ति न हो।

इसलिये यह मंत्र कहता है कि जब आप सभी प्राणियों को आत्मा के ही समान जान लेते हैं, सर्वत्र जब आत्मा की ही एकाकार भावना ध्यान में दिखलायी देने लगती है, तब मनुष्य के मन में किसी प्रकार का मोह नहीं होता। बल्कि वह कर्त्तव्य, सेवा, करुणा और अनुकम्पा की भावना से प्रेरित होकर, जगत् के कल्याण के लिये कर्म करता है। वह परिवार, समाज या राष्ट्र की सेवा इसलिये करता है कि विश्व में एक सुन्दर समाज, एक सुन्दर सृष्टि की स्थापना हो।

इसलिये भारतीय चिंतकों ने आत्म-दर्शन और अंतरंग समाधि पर जोर दिया है। मन और इन्द्रियों के परे जाने को कहा है। मनुष्य को चाहिये कि बाहर की चीजों की अपेक्षा अपनी आत्मा के अन्दर मोह को उतारे, इससे मोह को सुन्दर गति मिलेगी। जब मोह की धारा विषयों को छोड़ अन्दर की ओर मुड़ती है तो उसी समय से मोह का निराकरण प्रारम्भ हो जाता है।

शोक चाहे हल्का हो या गहरा, प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष, उसे दूर करने के लिये ध्यान में हमेशा अन्दर की ओर जाने की चेष्टा करनी चाहिये। मोह को दूर करने के लिये निरन्तर सत्संग, और आपस के सम्बन्धों को ठीक ढंग से निश्चित कर लेना चाहिये। इन सम्बन्धों में कर्त्तव्य की भावना रहे और एक-दूसरे के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझना चाहिये। मोह को दूर करने के लिये जगत् में कुछ अनिवार्य नियमों के सामने झुक जाना आवश्यक है। सुख-दुःख, विजय-पराजय, निन्दा-स्तुति, रोग-मृत्यु जीवन और जगत् के अनिवार्य नियम हैं। इनका सामना करने के लिये, जितना पुरुषार्थ सम्भव हो करना चाहिये, किन्तु बेकार की चिन्ता अपने मन में नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार के विचारों से शोक और मोह दोनों दूर होते हैं।

अष्टम मंत्र

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ् शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥8॥

अन्वय एवं शब्दार्थ

सः = वह, *शुक्रम्* = तेजोमय, *अकायम्* = शरीर-रहित, *अव्रणम्* = छिद्ररहित, *अस्नाविरम्* = शिराओं से रहित, *शुद्धम्* = शुद्ध, *अपापविद्धम्* = शुभ-अशुभ से परे, *पर्यगात्* = प्राप्त होता है, *कविः* = सर्वद्रष्टा, *मनीषी* = सर्वज्ञ, *परिभूः* = सर्व-नियन्ता, *स्वयंभूः* = स्वेच्छा से प्रकट होने वाले, *शाश्वतीभ्यः* = अनादि, *समाभ्यः* = काल से, *याथातथ्यतः* = कर्मानुसार, यथायोग्य, *अर्थान्* = सब पदार्थों की, *व्यदधात्* = रचना करते आये हैं।

अनुवाद

वह तेजोमय महापुरुष, छिद्रों और शिराओं से रहित, अप्राकृत, सच्चिदानन्द स्वरूप, स्वेच्छा से प्रकट होता है। वह शुभाशुभ कर्मसंस्कार-शून्य, सर्वद्रष्टा है। वह अनादिकाल से सभी वस्तुओं को उत्पन्न करता आया है।

व्याख्या

जिस महापुरुष की अनुभूति साधना की स्थिति में होती है वह कौन है? यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसका उत्तर आज तक किसी ने ठीक ढंग से नहीं दिया। लोग कहते हैं कि महापुरुष की अनुभूति किसी-किसी को होती है। इसी अनुभूति को आत्म-ज्ञान, मोक्ष, कैवल्य, निर्वाण, समाधि आदि अनेक नामों से पुकारा गया है। उपनिषदों में अनेक बार इस पर विचार किया गया है। वाराणसी के ब्रह्मज्ञानी क्षत्रिय राजा अजातशत्रु की कहानी प्रसिद्ध है (बृहदारण्यक उपनिषद्)।

एक बार गार्ग्यवालाशी नाम का एक ब्राह्मण पंडित उनके दरबार में आया। राजा ने उस ब्राह्मण से पूछा कि तुम ब्रह्म को किस रूप में जानते हो? ब्राह्मण ने उत्तर दिया कि हमारे ब्रह्म का चिह्न वैसा ही है, जैसा सूर्य का तेज। राजा ने कहा, 'नहीं'। फिर ब्राह्मण ने कहा कि जल में जो तरलता है, वह मेरे ब्रह्म का चिह्न है। राजा ने कहा, 'नहीं'। इस प्रकार ब्राह्मण ने अनेक उदाहरण दिये। पर अजातशत्रु संतुष्ट न हो सका। राजा ने अंत में कहा, चलो मैं तुम्हें ज्ञान देता हूँ, और वह ब्राह्मण का हाथ पकड़कर एक घर में ले गया। वहाँ एक व्यक्ति प्रगाढ़ निद्रा में सोया था। राजा ने कहा, 'इसे जगाओ'। ब्राह्मण ने कई बार प्रयत्न किया, पर वह व्यक्ति सोया का सोया ही रह गया। इस पर राजा ने पुन: कहा कि इस व्यक्ति का नाम पुकारकर जगाओ कि 'हे सोमदत्त, जागो'। ब्राह्मण ने वैसा ही किया और वह आदमी जाग गया। अजातशत्रु ने पूछा कि अभी यह व्यक्ति कहाँ था और कहाँ से आया? जो इस बात को जानता है, वही उस चेतन पुरुष के बारे में जानता है।

यह पुरुष इस शरीर के अन्दर कहाँ निहित रहता है? उपनिषद् कहती है कि हमारे शरीर में चेतना का एक स्रोत है, जो स्थूल शरीर में व्याप्त है। उसका केन्द्र सूक्ष्म शरीर में है, और जब व्यक्ति निद्रा से जागता है तो चेतना का वह स्रोत, बहत्तर हजार हिता नाम की नाड़ियों के माध्यम से सम्पूर्ण स्थूल शरीर में व्याप्त होकर, इच्छा, क्रिया, और ज्ञान को उत्पन्न करता है। इसे सुनकर गार्ग्यवालाशी को लगा कि परमपुरुष सूर्य का तेज नहीं बल्कि एक ऐसी विचित्र वस्तु है, जिसको हम समझ ही नहीं सकते। इसे चेतना कहते हैं।

एक बार अश्वपति कैकेयी नाम के राजा ने पाँच ब्राह्मणों को अलग-अलग बुलाकर प्रश्न पूछा कि आप ब्रह्म को किस रूप में उपासते हैं। सब ने अलग-अलग उत्तर दिया। किसी ने 'अग्नि', तो किसी ने 'जल' कहा और अपनी-अपनी अलग-अलग उपासना पद्धति बतलायी। अश्वपति ने कहा कि जिस ब्रह्म की आप उपासना करते हैं वह इन्द्रियों से परे की वस्तु है। यदि इन्द्रियों के द्वारा उस परम ब्रह्म का निर्णय भी कर दिया गया तो वह ब्रह्म का दर्शन नहीं है। केनोपनिषद् में इस प्रकार का एक मंत्र आया है, जिसमें कहा गया है –

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥(केन 1.5)

जिसका मन के द्वारा चिंतन नहीं होता, पर मन जिसके द्वारा चिंतन करता है उसी को ब्रह्म या परम पुरुष जानना चाहिये। इन्द्रियों के द्वारा अनुभव होने वाला परम पुरुष का स्वरूप नहीं हो सकता।

जिस पुरुष के बारे में बात कही जा रही है, वह शरीर धर्म से परे है। उसको कहीं छेद नहीं होते। उसकी काया नहीं होती। नसों की शिरायें नहीं होतें। साधारण मनुष्य की प्राकृत देह होती है। वे मूल प्रकृति एवं संस्कारों से पराभूत होकर जन्म धारण करते हैं। पर अवतार का सच्चिदानंद स्वरूप चिन्मय देह बिना कर्म-संस्कार या प्रारब्ध के, संकल्प के कारण पैदा होता है। इसे शुद्ध कहते हैं। इसीलिये जब परब्रह्म मनुष्य देह में आते हैं तो उसे अप्राकृत देह कहते हैं। हमारी देह पंचतत्त्वों से बनी है, पर वह पुरुष केवल योगमाया का सहारा लेकर प्रकट होता है। आत्मा तो स्वयं शुद्ध है। इसका सत्कर्म या कुकर्म, पूर्वजन्म, संस्कार या धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं। शुभ-अशुभ कर्मों से उस परमात्मा का कोई मतलब नहीं। यूँ तो लोग अपने हर काम के लिये भगवान को ही दोषी ठहराते हैं। लोग इस तरह अपने अपराध की भावना से मुक्त हो जाना चाहते हैं। यह एक मानसिक पलायनवाद का ही स्वरूप है। ऐसा करने से मस्तिष्क शून्य हो जाता है और प्रगति की सारी संभावनायें समाप्त हो जाती हैं।

जब तक मनुष्य अपनी गलतियों के परिणामों को स्वीकार नहीं करता, वह आगे बढ़ नहीं सकता। ऐसा लगता है कि मनुष्य अपने कर्मों को स्वीकार नहीं करना चाहता है, ताकि परिणामों की संभावनाओं से मुक्त रहे। पर परमेश्वर को इससे कोई प्रयोजन नहीं। यह प्राणी अज्ञान से घिरा हुआ है, इसलिये भटक-भटककर गलतियाँ करता है और अन्त में उनके परिणामों को भोगता भी है।

परमात्मा अपनी इच्छा से प्रकट होता है, और लुप्त हो जाता है। इसका कारण है कि वह प्रारब्ध-संस्कार के वशीभूत नहीं है। वह सच्चिदानन्द-रूप में या किसी भी रूप में अपने को प्रकट करता है। अनादिकाल से यह परमात्मा संसार की सभी वस्तुओं की रचना करता आया है पर काया या छिद्रों से रहित है, पाप-पुण्य इसे बांध नहीं सकते। वह सर्वद्रष्टा ज्ञानस्वरूप सर्वत्र है।

नवम मंत्र

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ्रताः ॥9॥

अन्वय एवं शब्दार्थ

ये= जो मनुष्य, *अविद्याम्*= अविद्या की, *उपासते*= उपासना करते हैं, *अन्धं तमः*= घोर अन्धकार में, *प्रविशन्ति*= प्रवेश करते हैं, *विद्यायाम्*= विद्या में, *रताः*= रत हैं, *ते*= वे, *ततः*= उससे, *उ*= भी, *भूय इव*= अत्यधिक, *तमः*= अन्धकार में (प्रवेश करते हैं)।

अनुवाद

जो मनुष्य अविद्या की उपासना करते हें, उन्हें अन्धकार की प्राप्ति होती है, और जो विद्या की उपासना करते हैं, उन्हें और भी गहन अन्धकार की प्राप्ति होती है।

व्याख्या

अब यहाँ एक प्रश्न उठता है कि उस आत्मा की प्राप्ति का उपाय क्या है। क्या हम तमाम कर्मों को छोड़कर केवल ध्यान का मार्ग अपनावें? क्या कर्म-मार्ग आत्मानुभूति के विपरीत पड़ता है? कुछ लोग समझते हैं कि खटकर काम करने वाले अविद्या-ग्रस्त हैं, वे अज्ञान में भटक रहे हैं। वे समझते हैं कि कर्म तो धनोपार्जन कराता है, वह आत्मा की ओर कैसे ले जावेगा। वेदों में पहले कर्मकाण्ड की चर्चा आयी है और बाद में ज्ञान की। यदि कर्म ही केवल उचित था तो ज्ञान की चर्चा की आवश्यकता क्यों पड़ी। अनेक लोगों ने अपने-अपने अनुकूल इसकी व्याख्या की है। किसी ने कर्म, तो किसी ने ज्ञान और किसी ने भक्ति को सर्वश्रेष्ठ माना

है। यह एक समालोचना का विषय है। उपनिषद् यहाँ एक महत्त्वपूर्ण उत्तर हमारे सामने विचित्र ढंग से प्रस्तुत करती है।

वेदों में विद्या और अविद्या, इन दो शब्दों का भिन्न प्रकार से उपयोग किया गया है। यहाँ विद्या का उपयोग शिक्षा प्रणाली के रूप में नहीं, बल्कि ध्यान के लिये किया गया है। उपनिषदों में अनेक विद्याओं की चर्चा आयी है, जैसे पंचाग्नि-विद्या, शाण्डिल्य-विद्या, उद्गीथ-विद्या, प्राण-विद्या, मधु-विद्या, गायत्री-विद्या, अश्वमेध-विद्या, आदि। उद्गीथ-विद्या का अर्थ हुआ उद्गीथ पर ध्यान करना। जिसे आज कल ध्यान कहा जाता है, प्राचीन काल में उसे विद्या कहा जाता था।

विद्या शब्द संस्कृत भाषा के विद् धातु से बना है, जिसका अर्थ है जानना। इसी धातु से विद्वान्, विदुषी, आदि शब्द बने हैं। यहाँ जानने का अर्थ बाहर जानना नहीं, बल्कि अपने अन्दर जानना होता है। जिसके द्वारा इन्द्रियों एवं मन के लिए अज्ञेय वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है, उसे विद्या कहते हैं।

अध्यात्म में विद्या और अविद्या को अनेक प्रकार से व्यवहृत किया गया है। विद्या के लिये सत्यज्ञान, आत्मानुभूति, अंतरंग-वृत्ति और ध्यान मार्ग का व्यवहार किया गया है, तथा अविद्या के लिये मिथ्या-ज्ञान, इन्द्रियानुभूति, बहिरंग-वृत्ति और कर्म मार्ग का। बाहर की वस्तु को जानने का साधन हमारी इन्द्रियाँ हैं। उनके माध्यम से हमें बाह्यजगत् की अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं, जैसे आँखों से रूप का ज्ञान, कानों से शब्द का, नासिका से गंध का, जिह्वा से रस का, त्वचा से स्पर्श का और मन से विचारों का अनुभव होता है। ये बाहरी ज्ञान अविद्या कहलाते हैं। इन्द्रियों का ज्ञान तीनों कालों में सत्य नहीं रहता, और सदा सबको एक समान, एक ही ज्ञान प्राप्त नहीं होता। यह तो मन और बुद्धि के संयोग से प्राप्त होता है। जिसका मस्तिष्क जितना विकसित रहेगा, उसे उतना ही अधिक ज्ञान प्राप्त होगा। कर्म करने से बाह्य-जगत् का अनुभव होता है। इसे अविद्या कहा गया है तथा ध्यान से वृत्तियाँ अंतर्मुख होती हैं, उसे विद्या कहा गया है। यदि कोई कर्म-मार्ग द्वारा केवल विषयों का अनुभव करता रहेगा तो उसे घनघोर अन्धकार की प्राप्ति होगी, पर यदि कर्म का त्यागकर केवल ध्यान करेगा तो उपनिषद् कहती है कि ज्ञान की प्राप्ति तो दूर रहे, और भी गहन अन्धकार की प्राप्ति होगी। सम्भव था उपनिषद् कहती कि विद्या के द्वारा भी अन्धकार में प्रवेश कर सकते हैं और अविद्या के द्वारा तो करेंगे ही। पर ऐसा नहीं कहकर सीधे कह दिया गया कि इन्द्रियों

को छोड़कर बहिरंग जगत् से दूर जो अंतरंग जगत् में जाएँगे, उन्हें गहनतम अन्धेरे में प्रवेश करना पड़ेगा। उपनिषद् यहाँ ज्ञान-मार्ग का उपदेश देते हुए भी कर्म की उपेक्षा नहीं करती।

यहाँ यह सोचने की बात है कि आखिर यह अन्ध: तम: है क्या? कुछ विचारकों का मत है कि मृत्यु के बाद जीवात्मा ऐसे लोकों में जाती है, जहाँ घनघोर अन्धकार है। अनेकों का मत है कि साधक जब ध्यान में बैठता है तो उसको बाहर के प्रदेश की अनुभूति होती है। ध्यान के दो रास्ते हैं। एक ऐसा रास्ता है, जिसे अग्नि-मार्ग कहा गया है। वहाँ प्रकाश ही प्रकाश है, तथा दूसरा रास्ता धुएँ का है, जहाँ घनघोर अन्धकार है। इस अन्धकार के बारे में कुछ लोगों का मत है कि ध्यान के समय कुछ तो लय की स्थिति में चले जाते हैं और कुछ जड़ समाधि में। यह अन्धकार की अवस्था है। दूसरी ओर कुछ साधकों को ध्यान में रूप और ज्योति का अनुभव होता है, इष्ट देव का प्रकटीकरण होता है, और यह रूप धीरे-धीरे इतना प्रत्यक्ष हो जाता है कि उसको दर्शन की संज्ञा दी जा सकती है। इसमें आकार की अभिव्यक्ति होती है। यह प्रकाश का मार्ग है।

मृत्यु के बाद जब वासना-शरीर का स्थूल-शरीर से विलगाव होता है, तो वह अचेत-सा हो जाता है। लगता है जैसे शरीर को लकवा मार गया हो। उसमें संज्ञा व स्वचेतना नहीं रहती। यह कारण-शरीर के थपेड़े खाकर जहाँ-तहाँ भटकता है और कर्मफल के नियमों के अनुसार प्रारब्ध के वशीभूत होकर पुनर्जन्म ग्रहण करता है। माता के शरीर में जाने पर ही चेतना की प्राप्ति होती है, इसीलिये लोग पूर्व-जन्म की बात भूल जाते हैं।

जो लोग इन्द्रियों से परे जगत् को सत्य नहीं मानते और केवल विषयों में रमे रहते हैं, मृत्यु के बाद वे उत्तम गति को प्राप्त नहीं करते। उनकी स्थिति तो उस शराबी की तरह हो जाती है, जो अचेत होकर किसी गन्दी-सी जगह में तब तक पड़ा रहता है, जब तक कि कोई दूसरा व्यक्ति उसे किसी उचित स्थान पर न पहुँचा दे। उसकी चेतना स्वयं निर्णय करके कोई सुन्दर जन्म ग्रहण करने में असमर्थ रहती है। ऐसे लोग अन्धकारपूर्ण लोकों को प्राप्त करते हैं।

परन्तु इसका एक दूसरा अर्थ भी है। ध्यान मार्ग में दो रास्ते हैं। एक को देवयान या उत्तरायण तथा दूसरे को पितृयान या दक्षिणायन कहते हैं। गीता में इसकी चर्चा आयी है –

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥8.24॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥8.25॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥8.26॥

कुछ लोगों को ध्यान करते समय अपने अन्दर प्रकाश का उद्भव होता है। ऐसा लगता है कि रात्रि का अन्धकार समाप्त हो गया। पहले उषा-काल और फिर सविता का प्रकाश। इस उषा-काल का वर्णन ऋग्वेद में बड़े रोचक ढंग से किया गया है। सविता, सावित्री और गायत्री, ये तीनों आध्यात्मिक शब्द हैं, जिनका अर्थ होता है आध्यात्मिक प्रकाश। इस प्रकाश में साधक अपनी चेतना को आगे की ओर ले जाता है। ध्यान की अवस्था में एक ऐसी स्थिति आती है, जिसमें साधक को बेहोशी-सी लगती है। इसमें आत्म-विभ्रांति सी रहती है, आत्म-चेतना नहीं।

साधक के चिदाकाश में अंधेरा और प्रगाढ़ हो जाता है। यह इतना गहरा होता है कि उसे अपनी चेतना के केन्द्र का भी पता नहीं रहता। लय की यह अवस्था, ध्यान मार्ग में एक बहुत बड़ा विक्षेप है।

ध्यान के मार्ग में साधक दो भिन्न रास्तों से गुजरता है। एक अग्नि का या प्रकाश का मार्ग है तो दूसरा धुँआ का या अन्धकार का मार्ग। प्रकाश मार्ग में बढ़ने वाले साधक की चेतना इड़ा नाड़ी से ऊपर की ओर बढ़ती है, और धूम्र पथ के पथिक की चेतना पिंगला से। इसका मुख्य कारण जीव की अपनी वासना है। यदि साधक ने अपनी इच्छाओं और संस्कारों का क्षय नहीं किया, वासनाओं की गठरी को खाली न कर सका, चित्त-शुद्ध नहीं हुआ, तो ये सब एक साथ मिलकर ध्यान की अवस्था में, साधक के सामने अंधकार का पर्दा डाल देते हैं। कर्म का क्षय हुए बिना, जो साधक केवल ध्यान के मार्ग में जाता है, उसे लय की प्राप्ति होती है, अंधकार मिलता है। यह शास्त्र कहता है और अनुभव भी। एक ऐसे साधक की कल्पना कीजिये, जो जीवन से थका है। काम, क्रोध, चिन्ता, लोभ, मोह, और परेशानियों से घिरा है। वह जैसे ही ध्यान में बैठता है तो उसे एक झटका-सा लगता है। और कुछ काल के लिये वह सब कुछ भूल जाता है। उसकी चेतना का लोप हो जाता है। इस अचेतन अवस्था को दूर करने के लिये अनेक साधनायें हैं।

एक दूसरा साधक है, जिसके संस्कार-वासना का क्षय हो चुका है, चित्त शुद्ध हो चुका है। वह जैसे ही ध्यान में बैठेगा, अंतर्मुख हो जाएगा। उसे ध्यान के प्रकाश का अनुभव होगा और उस प्रकाश में उसकी चेतना और भी गहराई तक चली जाएगी।

साधना के तीन सनातन मार्ग हैं – कर्म, भक्ति और ज्ञान। कर्म से चित्त शुद्ध होता है, भक्ति से एकाग्रता मिलती है और ज्ञान से आवरण का नाश होता है।

जो केवल धनोपार्जन के लिये ही कर्म को महत्त्व देते हैं, ऐसा लगता है कि वे कर्म का ठीक महत्त्व नहीं समझते। अध्यात्म-मार्ग में कहीं भी कर्म की निन्दा नहीं की गई है, बल्कि कर्म और त्याग, दोनों को साथ लेकर चलने को कहा गया है। त्याग रहित कर्म से संस्कार बनते हैं, संस्कारों से प्रारब्ध, और प्रारब्ध से पुनर्जन्म होता है। इस तरह जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है। त्याग-पूर्ण कर्म करने से संस्कार नहीं बनते।

दूसरी ओर केवल कर्म के द्वारा जीव का एकांगी विकास होता है। इस प्रकार आध्यात्मिक साध्य की प्राप्ति सम्भव नहीं है। जो केवल कर्म करते हैं और उसके फल एवं संस्कारों से जकड़े रहते है, उन्हें ध्यान में अनेक बाधायें होती हैं। पर केवल ज्ञान मार्ग में जाने वाली को अन्धकार ही नहीं, गहन अंधकार की प्राप्ति होती है। कर्म मार्ग में जो संस्कारों का क्षय होता है, वासनाओं का प्रक्षालन होता है, वह ज्ञान मार्ग से संभव नहीं है। यह ठीक है कि कर्म मार्ग में एक ओर इनकी समाप्ति के साथ-साथ नये संस्कार और नयी वासनायें बनती हैं, पर पुराने जमे हुए संस्कारों को दूर करने का दूसरा कोई उपाय भी तो नहीं है।

कुछ लोग अपने अनुभवों और संस्कारों को क्षय किये बिना ज्ञान-मार्ग में जाना चाहते हैं। वे त्याग, विवेक, अथवा ज्ञान मार्ग के द्वारा शीघ्र आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति करना चाहते हैं। यह उचित नहीं। जीवन में कर्म और ज्ञान, दोनों का समुच्चय, भावना, विवेक और व्यवहार के स्तरों पर होना चाहिये।

विश्व में कुछ लोग ऐसे मिलेंगे, जो कर्म को ही उपासना कहते हैं। दूसरा पक्ष शास्त्रों से उदाहरण देकर त्याग की प्रशंसा करते हैं। ऐसा करने से न तो त्याग ही होता है और न कर्म। यह तो एकांगी पक्ष हुआ, भले ही वे अपनी अज्ञानता के आनन्द में भूले रहें।

यहाँ त्याग का अर्थ जीवन की अनेक उपयोगी वस्तुओं को किसी कारणवश छोड़ देने से नहीं होता। यदि शक्कर की बीमारी वाला चीनी खाना छोड़ दे,

रक्तचाप वाला नमक छोड़ दे और आयकर के भय से कोई दान करने लगे तो क्या उसे त्याग कहा जाएगा? यह नीति हो सकती है, गुण नहीं। त्याग का अर्थ है अपने अन्दर की वासनाओं की प्रवृत्ति को स्वेच्छा से छोड़ना। ऐसा करते समय यह अनुभव करना होगा कि जीवन हल्का हो रहा है, कष्टमय नहीं।

विवेक के मार्ग में जब मनुष्य आत्म-विश्लेषण करने बैठता है, और उस समय यदि वह वासनाओं से प्रभावित रहा, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि उसे घेरे रहे तो उसे उस क्षण एक अज्ञात तनाव का अनुभव होता है। यह तनाव जीवन में अनेकों प्रकार के रस-विकार की तरह लगता है, और यही अवस्था उसे आलोकमय पथ से आगे ले जाती है। लेकिन यदि साधक जीवन से थका है, चिन्ता-ग्रस्त है, उसके मस्तिष्क में या तो रक्तप्रवाह ज्यादा है या कम, हृदय में धड़कनें उठती हैं, पेट में वायु है और शरीर में रक्त संचार नियमित नहीं है तो उस अवस्था में उसे आलोक की प्राप्ति नहीं हो सकती। चाहे उसे ध्यान की अच्छी-से-अच्छी विधि क्यों न मालूम हो। गुरु भी अच्छे हो सकते हैं और साधक भी, पर आलोक नहीं मिलेगा। वह ज्यों-ज्यों सूक्ष्म की स्थिति में अग्रसर होता है, उसे एक बोझ का अनुभव होने लगता है। यह दबाव इतना असह्य हो जाता है कि वह घबराकर वापस आ जाता है। यूँ तो स्थूल-शरीर में भी मन और चेतना पर यह बोझ है, पर उसकी प्रतीति उस अवस्था में नहीं होती। कभी-कभी साधक जब चेतना की सूक्ष्म भूमिका में उतरता है और उसे जाग्रतावस्था में भी कायम रखता है तो ये बोझ मानसिक असंतुलन उत्पन्न कर देते हैं। यही कारण है कि साधकों को गुरु के निकट बैठकर साधना करने की सलाह दी गयी है। कुण्डलिनी-योग की साधना में जब मूलाधार से कुण्डलिनी जाग्रत होकर ऊपर उठती है तो साधक के मन में कामना, क्रोध, लोभ आदि और भी तीव्र गति से उभरने लगते हैं। दबी वासनाएँ और संस्कार ऊपर आने लगते हैं और साधक को झकझोर देते हैं। इसीलिये उनका यथासंभव क्षय करना आवश्यक है।

गीता में जिस शुक्ल गति की चर्चा की गई है, वह साधक को तब तक प्राप्त नहीं हो सकती, जब तक कि वह अपने संचित संस्कारों का क्षय न कर ले। साधक को प्राचीन कर्मों का क्षय करना होगा। प्रारब्ध को क्षीण करना होगा तथा भोगों को चाहे जैसे भी हो, भोगना होगा। कर्म संस्कारों का क्षय करता है और नये संस्कारों का निर्माण भी। ज्ञान संस्कारों का क्षय नहीं कर सकता, पर नये संस्कारों के निर्माण में रोक लगा सकता है।

वैसे लोग जिनकी वासना शास्त्रों में लिपटी है, जो शास्त्रों के अध्ययन के द्वारा ही आत्मतत्त्व को जानने की कोशिश करते हैं, वे कभी आगे नहीं बढ़ सकते। उनमें सबसे बड़ी कमी तो यह आती है कि वे समझ लेते हैं कि उन्होंने सत्य को जान लिया और अब कुछ जानना बाकी नहीं है। इस गलत भावना के साथ ही साथ उनके मन में अहंकार की जागृति होती है और वहीं से पतन आरम्भ होता है।

ध्यान की स्थिति में साधक के अपने संस्कारों का भी उदय होता है। अपने अन्दर भिन्न-भिन्न रूपों में उन्हें देखता भी है, इसे दर्शन कहा जाता है। अपनी स्थिति के अनुसार अनेकों को देवी-देवता, तो किसी को पशु या भूत दिखलाई देते हैं। यह दृश्य स्वप्न के जैसा होता है, जाग्रत स्वप्न। ये जाग्रत-स्वप्न भी ध्यान के मार्ग में बाधक होते हैं। इसे भी अविद्या की श्रेणी में ही लिया जाता है। साधना के क्रम में इसे भी दूर करना होता है। अनेकों को ऐसा लगता है कि ध्यान में उन्हें ज्योति का दर्शन हुआ, पर अध्यात्म का देश इससे भी बहुत दूर है। यह तो केवल एक पृष्ठभूमि है। कुछ साधक तो इसे ही सच्चा मानकर जीवन भर देखते रहते हैं। सही मायने में ध्यान में न तो अन्धकार ही रहना चाहिये, न दृश्य और न ही आलोक का कोई एक केन्द्र, बल्कि सम्पूर्ण चिदाकाश ही आलोकित होना चाहिये। इसी स्थिति की प्राप्ति के लिये इस मंत्र में त्यागपूर्ण कर्म और विवेकमय ज्ञान की संतुलित उपलब्धि की सलाह दी गई है।

दशम मंत्र

अन्यदेवाहुः विद्ययान्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥10॥

अन्वय एवं शब्दार्थ

विद्यया= विद्या के मार्ग से, *अन्यत् एव*= दूसरा (ही फल), *आहुः*= बतलाते हैं, *अविद्यया*= कर्मों के मार्ग से, *अन्यत्*= दूसरा (फल), *इति*= इस प्रकार (हमने) *धीराणाम्*= (उन) धीर पुरुषों के, *शुश्रुम*= वचन सुने हैं, *ये*= जिन्होंने, *नः*= हमें, *तत्*= उस विषय को, *विचचक्षिरे*= व्याख्या करके भली-भाँति समझाया था।

अनुवाद

साधना के क्षेत्र में विद्या के मार्ग का अवलम्बन करने वाले साधक को एक दूसरे प्रकार की अनुभूति होती है और कर्म-मार्ग से जाने वालों को एक अन्य प्रकार की। ऐसा हमें धीर पुरुषों ने जो इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे, स्पष्ट रूप से बतलाया था।

व्याख्या

कर्म-मार्ग का अवलम्बन करने वाला साधक, जिसके अन्दर संस्कारों के गठ्ठर होते हैं, जब ध्यान में बैठता है, तो उसे एक विचित्र अनुभूति होती हैं। किसी को स्वरूप-दर्शन होता है, तो कोई ज्योति-बिन्दु देखता है और किसी को नाद सुनाई देता है। यहाँ साधना के भेद से भिन्न-भिन्न अनुभूतियाँ नहीं होती हैं। वह तो साधक की अपनी-अपनी क्षमता पर निर्भर करता है। यह इस बात का द्योतक है कि साधक किन संस्कारों से प्रभावित है। वह किस निमित्त और किस शरीर से ध्यान कर रहा है। चौबीसों घंटे दुनियादारी में रहने वाले साधक

को ध्यान की अवस्था में दृश्य बहुत दिखलाई देते हैं। यदि साधक भावुक हुआ तो स्वर और संगीत सुनाई देते हैं। उनके अनुभव कभी-कभी तो इतने विचित्र होते हैं कि बाह्य-जगत् में उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है। उन्हें लय की अवस्था की प्राप्ति तो नहीं होती पर लगातार स्वप्न दिखाई देते रहते हैं। वे भीतर तो दृश्य देखते ही हैं, साथ-ही-साथ बाहर से भी अचेत नहीं रहते। बाहरी शब्द उन्हें सुनाई पड़ते रहते हैं। उन्हें अपने चतुर्दिक होने वाली घटनाओं का आभास मिलता रहता है।

लेकिन जिन्होंने सब कुछ त्याग दिया, न तो अपने लिये कर्म किया और न दूसरों के लिए ही जीवन के झंझटों और जवाबदेहियों को तिलांजलि दे दी, उन्हें जीवन में तनाव का अनुभव नहीं होता। वे जब ध्यान करने बैठते हैं तो उन्हें आत्म-विस्मृति सी होने लगती है और लय की स्थिति में चले जाते हैं। यह स्थिति अमावस्या की अंधेरी रात की तरह होती है, ऐसे साधक के बगल से ध्यान करते समय यदि रेलगाड़ी भी गुजर जाय तो उन्हें पता नहीं चलता है। ऐसे लोग पाँच-छः महीने लगातार ध्यान करते रहते हैं, पर उन्हें कुछ भी अनुभव नहीं होता।

ऐसा इसलिये होता है कि उनके जीवन में संस्कार, प्रारब्ध, चित्त की चंचलता और मानसिक तनाव का सर्वथा अभाव रहता है। उन्हें ध्यान में उन्नति बहुत कम होती है। ध्यान के लिये दोनों ओर से खिंचाव की आवश्यकता है। आत्मा अन्दर जाने के लिये व्यग्र हो तथा इन्द्रियाँ बाह्य-जगत् को झाँकने के लिये आतुर। एक ऐसी अवस्था आती है जब साधक न तो पूर्ण अंतर्मुख ही होता है और न ही बहिर्मुख। यह बीच की एक स्थिर अवस्था है। यही कारण है कि इस स्थिति के अभाव में अनेकों साधु वर्षों तक चौबीसों घंटे ध्यान लगाते हैं पर उनकी प्रगति नहीं होती।

जब कोई व्यक्ति जीवन में चिंतामुक्त हो जाता है, पूर्णतया त्यागमय अवस्था में रहने लगता है, और वैसी हालत में यदि वह ध्यान करने बैठता है, तो बड़ी तेजी से अंतर्मुख होता है। ऐसा लगता है कि कोई बिना किसी सहारे के कुएँ में कूद गया हो। उनका मन मुठ्ठी से निकल जाता है। वह पकड़ में नहीं आता। इस शीघ्रता की अवस्था में जब वे अन्दर जाते हैं तो मन बाहर ही छूट जाता है और उड़ते हुए वाष्प की तरह विलीन हो जाता है। वहाँ जाने पर उन्हें लगता है कि किसी अंधेरी सुरंग से गुजर रहे हों। यदि कोई अपने इष्ट पर ध्यान करना चाहता है तो ऐसी अवस्था में वह भी संभव नहीं है। इष्ट भी बाहर ही छूट जाते हैं।

आवश्यकता तो यह है कि साधक धीरे-धीरे अपने मन को कब्जे में रखकर अन्दर जाए और अपने इष्ट के प्रति सदा सजग रहे। कुछ लोग सोचते हैं कि अगर सम्पत्ति होती तो हिमालय की किसी कुटिया में बैठकर निश्िंचत भाव से अनन्त साधना करता। वे इतना निश्िंचत हो जाना चाहते हैं कि अपने भोजन के लिये भी सोचना न पड़े। पर ऐसा करने से भी उनकी आध्यात्मिक प्रगति संभव नहीं है। ध्यान की प्राथमिक अवस्था न तो निश्िंचतता है और न एकान्त ही।

ज्ञान-मार्ग से जाने पर जहाँ एक ओर अन्धेरी सुरंग से गुजरने का सा अनुभव होता है तो दूसरी ओर कर्म-मार्ग से जाने पर ऐसा लगता है कि रास्ते में फूल-वृक्ष आदि लगे हैं। इसमें इतने दृश्य उभरते हैं कि साधक इन्हीं दृश्यों को देखकर वापस आ जाता है, आगे बढ़ता ही नहीं। यह अवस्था ऐसे व्यक्ति की सी होती है, जो घर से तो गंगा स्नान करने चला हो, पर रास्ते से खेल-तमाशे देखकर बिना स्नान किये लौट आया हो।

साधना में एक मार्ग तो अंतरंग दृश्यों का है, जिसे संस्कार-दर्शन कहते हैं, तथा दूसरा लय का, जिसमें न स्वप्न है, न जागृति, और न सुषुप्ति, बल्कि केवल जड़ता है। अब प्रश्न उठता है कि यदि विद्या का मार्ग लय का है और अविद्या का विकल्प का, तो इन दो विक्षेपों से कैसे मुक्ति पायी जाय? किस तरह ध्यान किया जाय ताकि आत्मा की ओर सीधे बढ़ा जा सके। शरीर की अपनी सीमायें हैं और मन की भी ऐसी अवस्था में कर्म और त्याग दोनों का समन्वय करना होगा। बाह्य जगत् के कोलाहल से तो अचेत रहे, पर अन्दर सजग। बाहर से तो वह जड़ प्रतीत हो पर अन्दर दृश्यों को देखे। उसकी अंत:चेतना सदा बनी रहनी चाहिये। यह स्थिति न तो संन्यासी और न गृहस्थ आसानी से पा सकता है। जो जीवनमुक्त होगा वही इसे पा सकता है।

एकादश मंत्र

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयँ् सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥11॥

अन्वय एवं शब्दार्थ

यः = जो मनुष्य, *तत् उभयम्* = उन दोनों को, *विद्याम्* = विद्या को, *च* = और, *अविद्याम्* = कर्म के तत्त्व को, *च* = भी, *सह* = साथ-साथ, *वेद* = यथार्थतः जान लेता है, *अविद्यया* = कर्मों के अनुष्ठान से, *मृत्युम्* = मृत्यु को, *तीर्त्वा* = पार करके, *विद्यया* = ज्ञान के अनुष्ठान से, *अमृतम्* = अमृत को, *अश्नुते* = भोगता है।

अनुवाद

जो साधक विद्या और अविद्या, या यूँ कहें, त्याग और कर्म, दोनों को साथ लेकर जीवन में चलता है, वह कर्म तत्त्व के द्वारा मृत्यु का निवारण करता है और त्याग के द्वारा उस अमृत आत्मा की प्राप्ति करता है।

व्याख्या

साधारणतया लोग मृत्यु शब्द का उपयोग भौतिक शरीर के नष्ट होने पर करते हैं। यह एक ऐसी अवस्था होती है, जब जीव-चेतना पार्थिव शरीर को छोड़ देती है। पर एक और भी अवस्था है, जिसे संत-साहित्य में मृत्यु कहा गया है। बाईबल में संत एलिजा ने कहा है कि 'मैं रोज मरता हूँ।' यह मरना पार्थिव देह का विनाश नहीं है। यह तो ध्यान की एक अवस्था का वर्णन है, जिसमें व्यक्ति की चेतना बाह्य-जगत् को नहीं देखती बल्कि वह अंतर्मुख होकर संस्कारों का दर्शन करती है। वह अनुभव वैसा नहीं होता, जैसा हम दुनिया को इन आँखों से देखते समय करते हैं।

केवल कर्म करने वाले साधक को ध्यान में पृथक् अनुभव प्राप्त होता है। उसे दृश्य दिखलाई देते हैं। वह लोक-लोकांतरों में जाता है और भटककर पुन: लौट आता है। अनेक पुराणों में मृत्यु के बाद जीव के इन्द्र-लोक, गरुड़-लोक, विष्णु-लोक आदि में जाने की चर्चा आई है। यह यात्रा ध्यान की उसी अवस्था का वर्णन है। साधक की चेतना अंदर जाती है और वहाँ छिपे संस्कारों का प्रतीकात्मक दर्शन करके पुन: मूल भूमिका पर लौट आती है और ध्यान टूट जाता है। कर्म मार्ग का साधक अधिक-से-अधिक देव-लोक तक जाता है।

आध्यात्मिक साधक के सामने एक बहुत बड़ा प्रश्न उठता है। यदि वह विद्या या त्याग के मार्ग से जाता है तो लय की प्राप्ति होती है और यदि कर्म-मार्ग का अवलम्बन करता है तो संस्कारों के दर्शन होते हैं, दृश्य मिलते हैं। इन दो अवस्थाओं में से किसी भी अवस्था वाले साधक को आत्मानुभूति या अनुभव की प्राप्ति नहीं होती। इस समस्या को सुलझाने के लिये हमारे शास्त्रों में अनेक चर्चाएँ आयी हैं। गीता में कर्म और ज्ञान, दोनों को एक साथ जीवन में लेकर चलने को कहा गया है। पर यह कितना कठिन है, यद्यपि अधिकतर लोग त्याग पसन्द करते हैं। कर्म-त्याग की भावना मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। वह किसी काम को जल्दी समाप्त करना चाहता है। वह छुट्टी खोजता है। अचेतन-मन में कर्म-त्याग की उसकी अपनी प्रवृत्ति ही उसे ऐसा करने को प्रेरित करती है। पर कर्म-त्याग तो केवल विवेक से ही संभव है। कुछ लोग तो इस जन्म में कौन कहे, अगले जन्मों में कर्म छोड़कर ध्यान करने की योजना बनाते हैं। ऐसा संभव नहीं है। कर्म का त्याग संभव नहीं है, त्याग की सम्पूर्ण निष्पत्ति भी नहीं होती है। उपनिषद् कर्म छोड़ने पर नहीं, बल्कि कर्म से जो संस्कार बनते हैं, और उनकी जो प्रतिक्रिया होती है, उन्हें रोकने पर जोर देती हैं। गीता में इसे ही अनासक्त-कर्म कहा गया है। मनुष्य जो भी कर्म करे, उसका मन पर कोई भी असर न पड़े। जीवन में सुख-दु:ख, सम्पत्ति, जन्म या मृत्यु, सबों को भोग लिया जावे, पर उसका दाग या प्रभाव मन पर नहीं पड़े।

जब कर्म की यह भावना समझ में आ जाती है, तब त्याग की निष्पत्ति होती है। त्याग की निष्पत्ति कर्मों के त्याग से नहीं, बल्कि विवेक के उदय से होती है। यदि विवेक का उदय न हो, और कर्म का त्याग कर दिया जाय, तो वही कर्म प्रारब्ध बनकर दूसरे जन्म तक भी पीछा करता है। कर्म-संस्कारों का क्षय करने के लिये या तो सुख-दु:ख के रूप में उन्हें भोगा जावे, या विवेक

द्वारा उनकी समाप्ति की जाय। यदि इन संस्कारों को बिना भोगे, या विवेक के द्वारा बिना समाप्त किये, दबा दिया जाता है, तो वे संस्कार दुगुने वेग से कभी-न-कभी प्रगट होते हैं। या तो वे शारीरिक असंतुलन का रूप ग्रहण करते हैं, या मानसिक असंतुलन का। जीवन की अनेकों बीमारियाँ इसी का परिणाम होती हैं। कहा तो यह जा सकता है कि संस्कार-क्षय के लिये विवेक से बढ़कर सीधा और सस्ता उपाय और कोई दूसरा हो ही नहीं सकता। जीवन में त्याग का प्रारम्भ ही विवेक से होता है। विवेक जाग्रत किये बिना ज्ञान और कर्म का एक साथ संयोग और संतुलन हो भी नहीं सकता है। विवेक मानव-जीवन की एक ऐसी योग्यता है जिसके द्वारा वह सार और असार, तत्त्व और अतत्त्व, जीवन और मृत्यु, तथा आत्मा और अनात्मा के बीच भेद को देख सकता है। इसके अभ्यास के लिये एक छोटा-सा उदाहरण ले सकते हैं। हम दिनभर जो भी कर्म करते हैं, सत्कर्म या अपकर्म, रात को सोने के पहले, उन कर्मों का तन्मय-भाव से चिंतन किया जावे, या अगर अधिक समय रहे, तो अपनी डायरी में उन्हें लिपिबद्ध कर लिया जाय, और कुछ महीनों के बाद, जब उन घटनाओं का सम्बन्ध जीवन से समाप्त हो जावे, तो साक्षी-भाव से उन्हें पुन: पढ़ा जावे, तो ऐसा करने से उन घटनाओं की सार्थकता या निरर्थकता का स्वयं पता चलेगा, विवेक की जागृति होगी।

साधक को ध्यान की अवस्था में लय और विक्षेप की प्राप्ति होती है। इन दोनों को समाप्त करने हेतु, ज्ञान और कर्म, दोनों का समन्वय जीवन में विवेक-पूर्वक करना चाहिये। इससे ध्यान की स्थिति में आत्मा का अनुभव होता है।

लेकिन एक प्रश्न उठता है कि आखिर ध्यान किसका? इस विषय पर अनेक मत-मतान्तर हैं। ध्यान का अर्थ होता है ख्याल। मन के अन्दर जब किसी व्यक्ति या घटना का ख्याल आता है और हम उसका चिंतन करते हैं, तो उसे ध्यान कह सकते हैं। ध्यान का अंग्रेजी में अनुवाद 'मेडिटेशन' किया गया है, पर यह ठीक नहीं है। ध्यान का अंग्रेजी अनुवाद 'अवेयर्नेस' होगा। संतों की भाषा में इसे सुरति कहा गया है।

ध्यान के लिये कोई साकार उपासना को उत्तम मानते हैं, तो कोई निराकार को। कोई केवल मूर्ति-पूजा को ही श्रेष्ठ मानते हैं, तो कोई मूर्ति-पूजा का विरोध करते हैं। पर ध्यान के मार्ग में चलने वाले को दोनों को साथ लेकर चलना पड़ेगा।

द्वादश मंत्र

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याँ् रताः॥12॥

अन्वय एवं शब्दार्थ

ये= जो, *असम्भूतिम्*= साकार की, *उपासते*= उपासना (ध्यान) करते हैं, *ते*= वे, *अन्धं तमः*= घोर अन्धकार, *प्रविशन्ति*= प्रवेश करते हैं, *ये*= जो, *सम्भूत्याम्*= निराकार, *रताः*= लीन होते हैं (ध्यान करते हैं), *ततः*= उनसे, *उ*= भी, *भूय इव*= मानो अधिकतर, *तमः*= अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

अनुवाद

जो साधक असम्भूति की उपासना करते हैं, उन्हें ध्यान की स्थिति में अन्धकारमय लोकों की प्राप्ति होती है, और उनसे भी ज्यादा घनघोर अन्धकार में वे लोग जाते हैं, जो सम्भूति के मार्ग से चलते हैं।

व्याख्या

इस मंत्र में असम्भूति और सम्भूति, दो महत्त्वपूर्ण शब्दों का उपयोग किया गया है। यह दृश्य जगत् जिसकी अनुभूति हम इन्द्रियों से करते हैं, जिन्हें हम नाम, रूप, और गुण की सीमा में बाँध सकते हैं, वह असम्भूति कहलाता है। इसे हम विराट् भी कह सकते हैं। असम्भूति को ही व्यक्त साकार, सोपाधिक, इन्द्रिय-गोचर, मूर्त, सविशेष, या असत् कहा जाता है। इसके परे जो अव्यक्त सत्ता है, जो नाम, रूप, गुण की सीमा के परे है, वह सम्भूति कहलाती है। इसे अव्यक्त, निराकार, इन्द्रियातीत, निर्विशेष, अमूर्त, हिरण्यगर्भ और सत् आदि नामों से जानते हैं। जगत् के तमाम मन की समष्टि को ही हिरण्यगर्भ कहा गया है। अब यहाँ असम्भूति का अर्थ हुआ साकार ब्रह्म, सम्भूति का अर्थ हुआ निराकार ब्रह्म।

परमात्मा के दो स्वरूप हुए, एक हमें इन्द्रिय के द्वारा दिखलाई देता है, दूसरा नहीं। ब्रह्म की वह शक्ति जो इन्द्रिय, वाणी, और बुद्धिगम्य नहीं है, उस पर जब ध्यान किया जाता है, तो उसे निराकार ध्यान कहा जाता है, और जिस स्वरूप की अनुभूति इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि से होती है, उसे साकार ध्यान कहते हैं। इसी प्रकार साकार को असम्भूति तथा निराकार को सम्भूति कहते हैं।

जो लोग निराकार का ध्यान करते हैं, उन्हें ध्यान की अवस्था में लय की प्राप्ति होती है। जब कोई ज्ञानी, त्यागी, संन्यासी, या अकर्मण्य साधक ध्यान में बैठता है, तो उसका मन सहसा तेजी से अंदर डूब जाता है, जैसे किसी कुँए में बिना रस्सी के कोई घड़ा गिरा दिया गया हो। इन साधकों की यह अवस्था इसलिये ऐसी होती है कि उनके दिमाग पर किसी प्रकार की चिन्ता या तनाव नहीं रहता। लय की इस अवस्था में साधक को न तो अंदर ही का कुछ ख्याल रहता है और न बाहर का। यद्यपि उसके प्राण चलते रहते हैं, रक्त-संचार भी बना रहता है, अंग-प्रत्यंग अपने कार्य पूर्ववत् करते रहते हैं, फिर भी उसकी अवस्था मृत-व्यक्ति की सी चेतना-हीन होती है। उस अवस्था में उसे समय का भी पता नहीं रहता। उससे यदि पूछा जाय कि कैसा लगा तो यही कहेगा कि कुछ पता नहीं चला कि समय कैसे बीत गया। कोई महान् योगी ही, जिसके चित्त की सारी चंचलता स्वत: समाप्त हो गई हो, निराकार की साधना का अधिकारी हो सकता है। ध्यान में साधक का मन मुख्य कारण बनता है। इसकी विचित्र गति है। स्वभावत: इसे स्थूल को ही पकड़ने की आदत है। यदि इसे निराकार के मार्ग से ले जाना है, तो इसके लिये उचित प्रशिक्षण की आवश्यकता है।

साधना के क्रम में मन के अवलोकन का जो कारण बनता है, जिस पर मन को टिकाया जाता है, उसे लक्ष्य कहते हैं। यह साधक की योग्यता के अनुसार तीन प्रकार के होते हैं – स्थूल, मध्यम, और सूक्ष्म। स्थूल लक्ष्य वह है, जिसे हम अपनी स्थूल इन्द्रियों से ग्रहण कर सकते हैं, जैसे देवताओं की मूर्ति, गुरु का स्वरूप, संतों की तस्वीर आदि। ज्यादातर साधकों को स्थूल लक्ष्य ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

मध्यम लक्ष्य उसे कहते हैं जो इन्द्रियगम्य तो नहीं पर विचारगम्य होते हैं। जप, चक्रों पर ध्यान, मूर्ति के स्थूल-स्वरूप को अपने अंदर चक्रों के स्थान पर देखना या कान बंदकर शब्द सुनना, आदि मध्यम लक्ष्य में आते हैं। सूक्ष्म लक्ष्य में केवल विचारों का चिंतन होता है, जैसे *'अहं ब्रह्मास्मि'* आदि। साधक अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा सत्य का निरूपण करता है पर यह सबों के लिये सुगम

नहीं है। यदि साधक का चित्त शुद्ध न हुआ, चिंतन की प्रणाली ठीक न रही तो संभव है कहीं अर्थ का अनर्थ न हो जाय। इन्द्र और विरोचन की कथा सर्वविदित है। एक ही सूत्र के चिंतन से जब इन्द्र को आत्मानुभूति की प्राप्ति हुई थी तो दूसरी ओर दैत्यराज विरोचन उसी सूत्र का चिंतन करते-करते और भी भटक गये थे।

साधक को पहले तर्क-वितर्क छोड़कर स्थूल साधना ही करनी चाहिये। ध्यान-मार्ग में कुछ ऐसी बातें करनी पड़ती हैं, जिनका तर्क से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उदाहरण के लिये, हम मूर्ति पूजा को ले सकते हैं। युगों से शास्त्र ने इसका विरोध किया है, पर व्यवहार में संतों ने इसका समर्थन ही नहीं, इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा भी की है। मन को स्थिर रखने के लिये उसे एक लक्ष्य की आवश्यकता है। यहीं मूर्ति की उपयोगिता प्रगट होती है। अंतर्मूर्ति तभी प्रकट होती है जब कोई बहिरंग मूर्ति हो। यदि आप अपने बाहर शिव की मूर्ति रखते हैं तभी संभव है कि आपकी चेतना अन्दर में शिवाकार हो। पर जो साधक इन बातों को न मानकर सीधे केवल तत्त्व-चिंतन में भिड़ जाते हैं, उनको उपनिषद् चेतावनी देती है कि उन्हें प्रकाश नहीं मिलेगा।

साधना के क्रम में साधक को बीच-बीच में अपनी जाँच स्वयं करनी चाहिये। उसे सोचना चाहिये कि ध्यान की स्थिति में अगर केवल बढ़ते हुए अंधकार को देखते हैं तो ध्यान में प्रगति नहीं हो रही है। एक दूसरा साधक होता है, जिसे ध्यान में प्रकाश का अनुभव होता है। उसे भी सोचना चाहिये कि क्या केवल प्रकाश दिखता है या उसके साथ कोई चित्र भी है। यदि चित्र नहीं दिखे तो समझना चाहिये, प्रगति नहीं हो रही है।

साधना के क्रम में, जब साधक आँखें बन्द करके किसी स्वरूप का ध्यान करने बैठता है तो ज्यों ही मूर्ति थोड़ी सी प्रगट होती है, ठीक उसी समय, प्रकाश भी छिटकना चाहिये। धीरे-धीरे सारा चिदाकाश ही उद्‌भासित हो जाय। पर होता क्या है? अनेकों साकार साधक को ध्यान के समय, ज्योंहि थोड़ी सी मूर्ति दिखती है, वे आँखें बन्दकर सो जाते हैं, और जब नींद खुलती है, तो कहते हैं कि अच्छा ध्यान लगा। ऐसे ही लोगों के लिये उपनिषद् कहती है 'अन्धं तम: प्रविशन्ति'।

साकार और निराकार के बीच लोग बड़ा विवाद खड़ा करते हैं पर बहुत कम लोगों को मालूम है कि साधना के क्षेत्र में साकार और निराकार के झगड़े से कोई मतलब नहीं। वह तो केवल लक्ष्य तक पहुँचने के लिये सीढ़ी है, जिस प्रक्रिया से होकर सभी को गुजरना पड़ेगा ही। इसमें जो सबसे पहले आती

है, वह है भक्ति, फिर बहिरंग साधना, जैसे पूजा, त्राटक आदि, उसके बाद अंतरंग-साधना और तब निराकार।

अंतरंग-साधना भी दो प्रकार की होती है। एक है मानस-पूजा, और दूसरी स्वरूप-स्मृति। मानस-पूजा करते समय साधक आँखें बन्द करके, अपनी कल्पना-शक्ति के द्वारा मूर्ति-दर्शन, फूल-धूप-दीप आदि का अर्पण, यह सब ठीक वैसे ही करता है जैसे स्थूल लक्ष्य के सामने। लेकिन ऐसा करते समय मुख से मंत्रोच्चार नहीं होना चाहिये। जो कुछ भी किया जाय वह मन के अन्दर ही। मानस-पूजा करते समय जो कुछ भी किया जाय उसकी स्मृति सदैव बनी रहनी चाहिए। मानस-पूजा का साधक अपनी स्मृति को दो भागों में बाँट देता है। एक वह जो पूजा करता है तथा दूसरा जो साक्षी-भाव से द्रष्टा की तरह सारी क्रियाओं को देखता है। कभी-कभी तो यह पूजा इतनी साकार हो जाती है कि ऐसा भ्रम होने लगता है कि मैंने आरती की है या स्तुति। लेकिन इस मानसिक पूजा के लिये मन को उचित प्रशिक्षण तथा पूर्वाभ्यास की आवश्यकता होती है। कुछ दिन पूर्ण निष्ठा से बहिरंग पूजा करने के बाद जब उसका प्रभाव मानस-पटल पर पड़ने लग जाय तो समझना चाहिये कि मानस-पूजा की भूमिका तैयार हो चुकी है, और उसे धीरे-धीरे प्रारम्भ किया जा सकता है।

मानस-पूजा करते समय यदि उपासक इतना लीन होने लगे कि वह पूजा के एक ही क्रम में रह जाय तो समझना चाहिये कि अब वह स्थिति आ गयी है जिसमें मानसिक पूजा भी छूट सकती है। जैसे कोई आरती करते हुए केवल आरती ही करता जा रहा है तथा वह भूल जाता है कि इसके पहले और बाद में भी कुछ है, तो समझना चाहिये कि मानसिक-पूजा की अब परिणति हो रही है।

अब रही बात स्वरूप-स्मृति की। इसमें पूजा-अर्चना कुछ नहीं होती है, बल्कि साधक केवल अपने इष्ट के स्वरूप का स्मरण करता है, और वह इतना स्पष्ट हो जाता है कि जैसे प्रत्यक्ष में कोई अपनी स्थूल इन्द्रियों से किसी को देखता हो। यह मानसिक पूजा से ज्यादा ऊँची स्थिति है। इसमें साधक की चेतना अंतर्मुख होकर स्वयं इष्ट का रूप ग्रहण करती है और साधक उसमें इतना तल्लीन हो जाता है कि उसे बाहर के वातावरण का कोई ख्याल ही नहीं रहता। इस स्थिति को प्राप्त करने के बाद ही निराकार की ओर बढ़ना चाहिये।

पर यदि साधक का चित्त निर्मल नहीं हुआ, उसमें चंचलता वर्तमान है, शरीर शुद्ध नहीं हो सका तो वैसी स्थिति में निराकार का पथ ग्रहण नहीं करना चाहिये, बल्कि साकार में ही रहना चाहिये।

त्रयोदश मंत्र

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥13॥

अन्वय एवं शब्दार्थ

सम्भवात् = अविनाशी ब्रह्म की उपासना से, *अन्यत् एव* = दूसरा ही फल, *आहुः* = बतलाते हैं, *असम्भवात्* = साकार उपासना से, *अन्यत्* = दूसरा ही फल, *आहुः* = बतलाते हैं, *इति* = इस प्रकार (हमने), *धीराणाम्* = धीर पुरुषों के, *शुश्रुम* = वचन सुने हैं, *ये* = जिन्होंने, *नः* = हमें, *तत्* = उस विषय का, *विचचक्षिरे* = व्याख्या करके समझाया था।

अनुवाद

हमने धीर पुरुषों के वचन सुने हैं, जिन्होंने हमें उस विषय को व्याख्या करके समझाया था कि अविनाशी (निराकार) ब्रह्म की उपासना से दूसरा ही फल मिलता है तथा साकार से दूसरा।

व्याख्या

धर्मों के अन्दर पायी जाने वाली साम्प्रदायिक भावना के शमन के लिये लोग बहुधा कहते हैं कि जो जिस रूप की उपासना करता है उसे अंत में उसी की प्राप्ति होती है। पर बात ऐसी नहीं है। देखने से पता चलेगा कि साकार की उपासना करने वाले और निराकार की उपासना करने वाले, अलग-अलग साधकों की चित्त की वृत्ति भी भिन्न-भिन्न होती है। ऐसे साधकों को अलग-अलग मार्गों की प्राप्ति होती है।

महर्षि पतंजलि ने अपने योग-सूत्रों में लिखा है – *'भवप्रत्ययो विदेह-प्रकृतिलयानाम्।'* योगी दो प्रकार के होते हैं, एक विदेह, दूसरा प्रकृति-लय।

साकार उपासक विदेह अवस्था की प्राप्ति करता है तथा निराकार का उपासक प्रकृति-लय की। साकार-उपासना से धीरे-धीरे तुरीयावस्था की प्राप्ति होती है, जिसमें साधक भीतर तो सजग रहता ही है, बाहर भी जड़ नहीं होता। निराकार का साधक प्रकृति-लय अवस्था को प्राप्त करता है। भीतर तो वह जाता है, जहाँ अनंत ज्ञान का सागर लहरा रहा है, पर जब वापस आता है तो खाली हाथ लौटता है। वहाँ उसकी चेतना ही विलीन हो जाती है। दोनों ही पथ के अपने गुण और भेद अलग-अलग हैं।

यदि साधक का चित्त स्थिर रहा, मन में बैचेनी नहीं रही और वासनायें कम रहीं या नहीं रहीं तो समझना चाहिये कि निराकार मार्ग में उत्तम-फल की प्राप्ति होगी। पर यदि मन की अवस्था इसके विपरीत रही तो निराकार के मार्ग में विक्षेप ही मिलेंगे। उन्हें साकार मार्ग में ही अधिक शांति मिलेगी। यही कारण है कि युगों के तार्किक प्रहार के बावजूद न केवल गृहस्थों ने अपितु संतों ने साकारोपासना को प्रचलित रखा। वेदों ने देवताओं के बाहुल्य की बड़े शिष्ट ढंग से आलोचना की और कहा – *कस्मै देवाय हविषाविधेम।* ऋग्वेद में एक स्थल पर लिखा गया है कि सत्य एक है, पर ज्ञानी अनेक नाम से पुकारते हैं। कोई इन्द्र कहता है तो कोई वरुण तो कोई मातरिश्वा आदि। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी ऐसी चर्चा आयी है, जहाँ याज्ञवल्क्य ने कहा कि यह जो ब्रह्म जगत् का परमात्मा है, इसके दो रूप हैं, एक मूर्त तथा दूसरा अमूर्त। जिसका अनुभव इन्द्रियों से होता है, वह मूर्त है तथा जो इन्द्रियों की अनुभूति के परे है, उसे अमूर्त कहते हैं।

बाद में जैन धर्म ने साकार का विरोध किया और फिर बौद्धों ने भी। सांख्य में भी महर्षि कपिल ने इसका विरोध किया। विचित्र बात तो यह कि जिन लोगों ने मूर्ति पूजा का विरोध किया, वे स्वयं केवल मूर्ति को बदलते चले गये। एक का विरोध, दूसरे की स्थापना, किसी-न-किसी रूप में होती चली। अनेक युगों में ज्ञानी-पुरुषों एवं ब्रह्म-चिंतकों ने मूर्ति-पूजा को हेय दृष्टि से देखा। पर एक ऐसा भी युग आया, जिसमें उपनिषदों की व्याख्या करने वाले स्वयं जगद्गुरु शंकराचार्य ने देवताओं की स्थापना और उनकी पूजा पर बल दिया। श्री रामानुजाचार्य ने भी कहा कि ज्ञानी पुरुष, अपने ज्ञान के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति करते हैं, ध्यान और संयम के मार्ग वाले ध्यान और संयम के सहारे ऊपर उठते हैं, पर वैसे लोग जो 24 घंटे कर्म में लीन रहते हैं, निन्यानवे के चक्कर में लगे रहते हें, उनको प्रतिमा की पूजा के सिवाय

और कोई उपाय नहीं। साकार और निराकार वाले की गति अलग-अलग होती है। एक शुक्ल, जिसे उत्तरायण कह सकते हैं तथा दूसरी कृष्ण, जिसे दक्षिणायण कहते हैं (गीता 8.26)। जो साकार मार्ग से जाते हैं, उनकी शुक्ल गति होती है। उन्हें प्रकाश मिलता है, तथा दूसरे मार्ग से (जिसे निराकार कहते हैं) जाने से अंधकार मिलता है, और पुन: यात्रा करनी पड़ती है तो प्रारम्भ से ही।

लेकिन एक बात है कि साकार मार्ग में भी जरा सोच-समझकर चलना पड़ता है। यह मार्ग बहुत छोटा है। ऐसा न हो कि साधक जीवन भर इन्हीं चक्करदार गलियों में भटकता रह जाय। कभी-कभी तो ऐसा देखा गया है कि साधक मूर्ति को छोड़ना चाहता तो है पर वह छूटती ही नहीं। जीवनभर उसे पकड़े बैठे रह जाता है। प्रश्न उठता है कि क्या साधक की आसक्ति मूर्ति के प्रति होनी चाहिये। क्या मूर्ति साध्य हो सकती है, या वह केवल चित्त को एकाग्र करने का साधन मात्र। यदि वह साधन है, तो जब चित्त एकाग्र होने लगे, अपने अन्दर मूर्ति स्पष्ट होने लगे तो फिर बाहरी मूर्ति रह कहाँ जाती है? चित्त अन्दर चला जावेगा और मूर्ति तो बाहर ही छूट जायेगी। जब हम अपने से बाहर स्थूल इन्द्रियों के द्वारा मूर्ति का देखते हैं तो वह बहिरंग मूर्ति-पूजा कहलाती है, पर वही मूर्ति जब अन्दर स्पष्ट होने लगे, और हमारी साधना का आधार बन जावे तो उसे अंतरंग मूर्ति-पूजा कहेंगे।

अब मूर्ति के भी दो रूप हुए। एक तो वह जो स्थूल वस्तुओं से बनती है, जैसे पत्थर की मूर्ति, धातुओं की मूर्ति, आदि। दूसरी वह जो चित्त की वृत्तिओं का रूप है। हमारे चित्त की वृत्तियाँ हमारे अंदर कल्पना का आधार लेकर रूप ग्रहण करती हैं। अब साकार के पुन: दो रूप हो गये। एक इन्द्रियों की वृत्तियों का रूप जिसे बहिरंग-रूप कहते हैं, तथा दूसरा चित्त की वृत्तियों का रूप, जिसे अंतरंग-रूप कहते हैं। हमारी चित्त की वृत्ति ऊपर उठने के लिये कोई आधार खोजती है। वह आधार हुआ बहिरंग-रूप, पर एक बार अंतरंग पक्ष में जाने पर बहिरंग पक्ष के प्रति मोह-माया को छोड़ देना चाहिये, नहीं तो चित्त-वृत्ति ऊपर उठने में असमर्थ रहेगी। अंतरंग-पूजा के समय, उपासक की स्थिति वैसी ही होनी चाहिये, जैसे कि कोई सचमुच स्थूल रूप से मूर्ति पूजा कर रहा हो। इसमें जिसकी कल्पना-शक्ति जितनी प्रबल होगी वह उतना ही सफल होगा। अंतरंग-पूजा के समय की स्थिति होनी चाहिये *'देहो देवालय: प्रोक्त:, जीवो देव: सनातन:।'* इस अंतरंग साकार के बाद ही निराकार में प्रवेश किया

जा सकता है। निराकार मार्ग से जाने वाला साधक यदि दो-तीन घंटों तक एक आसन में बैठने में असमर्थ रहे तो समझना चाहिये कि वह लय से, जड़ता से बच गया। उसे सुधरने का समय है। साथ ही शास्त्र कहता है कि साधक कितनी ही अच्छी साधना करने वाला क्यों न हो, निराकार की साधना केवल अधिकारी व्यक्ति को ही करनी चाहिये। इस मार्ग पर चलने वाले का जीवन के प्रति दृष्टिकोण ही बदल जाता है। वह सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म-स्वरूप देखता तो है, पर उसके हृदय में करुणा, अनुकम्पा और सेवा की भावना नहीं आती है। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण ही नीरस हो जाता है।

चतुर्दश मंत्र

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयँ् सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥14॥

अन्वय एवं शब्दार्थ

यः= जो मनुष्य, *तत् उभयम्*= उन दोनों को, *सम्भूतिम्*= अविनाशी ब्रह्म को, *च*= और, *विनाशम्*= विनाशशील अर्थात् साकार को, *च*= भी, *सह*= साथ-साथ, *वेद*= यथार्थतः जान लेता है, *विनाशेन*= (वह) विनाशशील अर्थात् साकार उपासना से, *मृत्युम्*= मृत्यु को, *तीर्त्वा*= पार करके, *सम्भूत्या*= अविनाशी ब्रह्म की उपासना से, *अमृतम्*= अमृत को, *अश्नुतं*= भोगता है।

अनुवाद

जो यथार्थ को जान लेता है, वह साकार और निराकार (अविनाशी ब्रह्म) को एक साथ लेकर चलता है। साकार की उपासना से वह मृत्यु को पार कर जाता है, तथा निराकार से अमृत को प्राप्त करता है।

व्याख्या

प्रस्तुत मंत्र साधक के सामने एक विचित्र समस्या उत्पन्न करता है। वह साकार और निराकार, दोनों को एक साथ लेकर कैसे चले? जो साकार या निराकार, दोनों में से किसी एक को दूसरे से उत्तम मानते हैं, वे वास्तविकता से दूर होते हैं। इसके साथ ही साथ, साकार निराकार के बराबर नहीं और निराकार साकार के बराबर नहीं है। साधक को दोनों पक्ष एक साथ लेकर चलना चाहिये। इससे लय को रोका जा सकता है, तथा साथ ही साथ अनुभव भी प्राप्त किया जा सकता है।

जब हम घर या मन्दिर में किसी मूर्ति को देखते हैं, पूजा करते है, मंत्रोच्चार करते हैं, तो हमारी पूजा साकार पूजा की कोटि में आती है। जब उसी मूर्ति को

अपनी कल्पना की डोर से, धीरे-धीरे अंदर उतारते हैं, जहाँ उसका साक्षात्कार होता है, तो यह स्थिति, साकार और निराकार के समन्वय की होती है। इस मानसिक पूजा के बारे में ऊपर कहा जा चुका है। यहाँ यह कहना आवश्यक होगा कि मानस पूजा के दो रूप होते हैं। एक में हम अपने इष्ट की पूजा विभिन्न विधियों से करते हैं। इसमें हमारे चित्त की वृत्ति अनेक रूपों को धारण करती है। वह कभी इष्ट बनती है, पुनः पुष्प, धूप, दीप, आरती आदि। हमारी चित्त-वृत्ति खंडित होती रहती है। पर एक दूसरी भी मानस पूजा है, जिसमें साधक कुछ करता नहीं, बल्कि वह केवल अपने इष्ट को किसी एक स्थान पर, शरीर के किसी चक्र में प्रतिष्ठापित कर केवल देखता रहता है। केवल चेतना सजग रहती है। इसे ध्यान कहते हैं। मानस पूजा और ध्यान में केवल इतना अन्तर है कि जहाँ मानस पूजा में चित्त की वृत्तियाँ अनेक रहती हैं, वहाँ ध्यान में एक झरने के प्रवाह की तरह, अखंडित। मानस-पूजा में चित्त की वृत्ति विराम-प्रत्यय को प्राप्त करती है, पर ध्यान में नहीं।

साधारणतया, लोग निराकार का अर्थ वैसी वस्तु से लगाते हैं, जिसका कोई आकार नहीं हो। वे मूर्ति-रहित अवस्था को निराकार मानते हैं। पर ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसका आकार न हो। भले ही आँखों को न दिखे। निराकार का अर्थ शून्य भी नहीं होता है। यदि कोई यह सोच ले कि आखें बन्दकर किसी भी देवी-देवता की मूर्ति का ध्यान नहीं किया जाय, केवल शून्य को ही देखा जाय, तो यह भी निराकार नहीं हो सकता है, क्योंकि चित्त निराकार को ग्रहण नहीं कर सकता। चित्त की वृत्ति जिस किसी भी वस्तु को ग्रहण करती है, उसका आकार अवश्यक होता है। जब तक चित्त की स्थिति है, स्फुरण है, तब तक निराकार को वह ग्रहण नहीं कर सकता, और जिस समय निराकार को ग्रहण करता है, उस समय चित्त नहीं रहता। चेतना के रहते निराकार स्थिति का ज्ञान नहीं हो सकता। सोये आदमी को जाग्रत अवस्था का ज्ञान नहीं रहता, और जगा हुआ व्यक्ति स्वप्न नहीं देखता। किसी एक स्थिति में दोनों का अनुभव सम्भव नहीं है।

जब साधक जगा रहता है तो स्थूल का दर्शन होता है। जब वह अन्दर जाता है, तो अपने इष्ट-देव की छाया या मूर्ति का दर्शन करता है। पर जब और अन्दर जाता है तो मूर्ति के दर्शन होने के बाद भी जो स्थिति रहती है, वह निराकार की अवस्था है। (इसका वर्णन शब्दों में करना कठिन है) इस प्रकार हमने साधना के तीन पंथों की चर्चा की। एक आँखें खोलकर अनुभव करना,

दूसरा मानस-पूजा तथा तीसरा साकार और निराकार का दोहरा ध्यान। यही कारण है कि योग शास्त्र में इसकी बड़ी महिमा गायी गई है।

ध्यान की प्रक्रिया में एक और गलतफहमी पायी जाती है। अधिकतर पुस्तकों में पाया जाता है कि जिस मूर्ति का ध्यान किया जाता है, उसका ध्यान में धीरे-धीरे लोप हो जाता है, पर अनुभव यह नहीं कहता। वह मूर्ति तो रहती ही है, लोप केवल उस चेतना का होता है जो साक्षी बनकर मूर्ति को देखने का अनुभव करती है। बल्कि स्वरूप और भी स्पष्ट हो जाता है। हाँ, एक बात होती है कि जब चित्त स्वयं निराकार हो जाता है तो वैसी अवस्था में वह स्वरूप, जाग्रतावस्था जैसा स्पष्ट नहीं भी दिखता। उस अवस्था में चित्त-वृत्तियों का नाश हो जाता है। भौतिक चेतना सिमटकर कहीं चली जाती है। जब चेतना का पर्यवसान होने लगता है तब बाहर की किसी चीज का अनुभव नहीं होता, क्योंकि अनुभव करने वाला मन जो नहीं रहा। इस अवस्था में इन्द्रियाँ अकर्मण्य हो जाती हैं। वे न तो कुछ कर सकती हैं, न कुछ अनुभव ही कर सकती हैं। बाहर एक प्रकार की जड़ता की-सी अवस्था हो जाती है। यह एक ऊँची स्थिति है। इसे आत्मानुभूति या समाधि की अवस्था कह सकते हैं। (पाठक क्षमा करेंगे, क्योंकि इस स्थिति का वर्णन शब्दों के माध्यम से कठिन है।)

एक बात यहाँ ध्यान देने योग्य है। कभी-कभी आदमी विभ्रमवश, सुषुप्ति और समाधि, दोनों को एक ही समझ बैठते हैं। दोनों का बाहरी चोला एक ही जैसा होता है। बाहर दोनों में जड़ता रहती है। दोनों में ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध का अनुभव नहीं होता, पर दोनों में एक बड़ा भेद है। सुषुप्ति में अन्दर जड़ता रहती है, समाधि में ज्ञान और चेतना।

निराकार के बारे में हमारे समाज में दार्शनिक विरोध नहीं, बल्कि साम्प्रदायिक विरोध है। निराकार का अर्थ लगाते समय लोग यह कहते हैं कि जिस स्थिति में आकार नहीं रहे, वह निराकार है, पर प्रश्न उठता है कि आखिर किसके आकार का लोप होता है। हमारा चित्त, जो किसी एक आकार को प्राप्त होता है, उसका ही लोप हो जाता है। चित्त के लोप होने पर आत्मा में जिस मूर्ति का उदय होता है, वह और भी प्रत्यक्ष हो जाती है। इसे भक्त दर्शन कहते हैं, योग में अन्त:दर्शन कहते हैं। यद्यपि उसका नेत्रों या इन्द्रियों से कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी वहाँ भी पूर्ण अनुभव होता है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि हम स्थूल नेत्रों से जिसको देखते हैं, वही सत्य नहीं है, भीतरी दृश्य बाहरी

दृश्य से अधिक प्रत्यक्ष दिखता है। प्रारम्भ में तो साधक को इस संसार पर ही संदेह होने लगता है।

मानस पूजा करते-करते जब चित्त एकाग्र होने लगता है, तो एक अभूतपूर्व शान्ति का अनुभव होता है। और जब मानस पूजा करते-करते ऐसी अवस्था आ जाय कि एक ही वस्तु, एक ही क्रिया, और एक ही कर्म कायम रहे, तो वैसी अवस्था में मानस-पूजा स्वयं छूट जाती है, और ध्यान लग जाता है। इसके लिये कुछ करना नहीं पड़ता। जिस प्रकार कुँए में बिना रस्सी के यदि किसी वस्तु को छोड़ा जाय, तो वह तेजी से सीधे नीचे पहुँच जाती है, वैसे ही उपरोक्त अवस्था आने के बाद, साधक निराकार में स्वत: चला जाता है। इसके लिये मार्गदर्शक की आवश्यकता नहीं होती। हमारा तो अपना निजी मत है कि साधक को साकार उपासना के लिये ही मार्गबन्धु की आवश्यकता है, या यूँ कहें कि समर्थ मार्गदर्शक की आवश्यकता है, जिसके निर्देश पर कुछ दिनों तक साकार उपासना अवश्य की जाय। आसन, प्राणायाम, कीर्तन, यहाँ तक की पूजा में गलती और उससे उत्पन्न हानि की संभावना रहती है। पर सूक्ष्म में नहीं। व्यक्ति अपनी जिन वासनाओं का, वासनापरक वस्तुओं का या वासना-सम्बन्धी कर्मों का स्मरण करता है, वही शक्ति सूक्ष्म-पूजा में प्रवाहित होकर अपनी धारा बदल देती है।

उपनिषद् का यह मंत्र न तो साकार की निन्दा करता है, न निराकार की। अपितु यह दोनों को एक साथ लेकर चलने को कहता है। साकार के द्वारा हम लय को रोक सकते हैं और निराकार के द्वारा अमृत आत्मानुभव की प्राप्ति होती है। आत्मानुभव सदा एक-सा रहता है। आत्मा पहले भी थी, इस जन्म में भी है, और आगे भी रहेगी। *सूत्रे मणिगणा: इव* – यह हमारे जन्म-जन्मान्तरों में पिरोयी रहती है। इसका नाश नहीं होता। इस जन्म में भी यह पूर्ण विकसित रूप से हमारे अंदर है, पर आवश्यकता है उसे प्रगट करने की, अनुभव करने की। मनुष्य तो मनुष्य, यह पशुओं के भीतर भी है। यह एक जीवित सत्य है। यह सब के अंदर स्थिति और सत्ता के रूप में है। प्रस्तुत मंत्र में इसे ही अमृत कहा गया है।

चित्त को खंडित करने की क्रिया ही निराकार उपासना है। आवश्यकता है कि साधक स्थूल से थोड़ा आगे सूक्ष्म की ओर बढ़े, और निराकार वाले भी थोड़ा नीचे उतरें, तभी दोनों की संधि संभव है।

पंचदश मंत्र

हिरणमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥15॥

अन्वय एवं शब्दार्थ

पूषन्= पोषण करने वाला, *सत्यस्य*= सत्य का, *मुखम्*= मुख, *हिरणमयेन*= सोने के, *पात्रेण*= पात्र से, *अपिहितम्*= ढका हुआ है, *सत्यधर्माय*= सत्य-धर्म को, *दृष्टये*= देखने के लिये, *तत्*= उस आवरण को, *त्वम्*= तुम, *अपावृणु*= हटा लो।

अनुवाद

सत्य का मुख, सोने के पात्र से ढका हुआ है, उसे देखने के लिये हे पोषण करने वाले, उस ढक्कन को हटाओ।

व्याख्या

हमारे अन्दर इन्द्रियों का विप्लव होता रहता है। विषयों के कोलाहल में इन्द्रियाँ इस तरह उलझी रहती हैं कि उन्हें आत्मा का मधुर स्वर सुनाई ही नहीं पड़ता। जब हम अपनी चित्त-वृत्ति को बाह्य-जगत् से हटाकर, चेतना के केन्द्र में प्रतिष्ठापित करते हैं, तब आत्मानुभव होता है।

जीव को आत्मानुभव और विषयों का अनुभव, दोनों सदैव होता रहता है। जो अविद्या के बन्धन में हैं, उन्हें विषयों का अनुभव होता है और जो इससे मुक्त हो जाते हैं, उन्हें आत्मा का अनुभव होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारी व्यक्तिगत चेतना भी दो प्रकार की होती है, एक बद्ध और दूसरी मुक्त।

प्रस्तुत मंत्र में हिरण्यमय शब्द वेदों के हिरण्यगर्भ शब्द के लिये ही आया है। मनुष्य की इच्छा-शक्ति, ज्ञान-शक्ति, अनुभव-शक्ति, तथा सोचने की

शक्ति आदि मन की वृत्तियों से सम्बन्ध रखती हैं। इन सबों के योग को हिरण्यगर्भ कहते हैं। अब एक हुई व्यक्तिगत-चेतना और दूसरी हुई कुल-चेतना। जब हम अपने या अपने परिवार के हित की बात सोचते है, तो हमारे मन में विचारों की एक शृंखला प्रगट होती है। यह विचारों का एक क्षेत्र हुआ। उसी प्रकार चेतना का और विचारों का दूसरा और तीसरा क्षेत्र भी होता है। वेदान्त में चेतना के तीन क्षेत्रों का स्पष्ट वर्णन आया है। इनमें पहली स्थूल चेतना, दूसरी सूक्ष्म चेतना, तथा तीसरी कारण चेतना है। इन तीनों का योग हिरण्यगर्भ कहा जाता है।

हमारे मन में दिनभर घर-गृहस्थी के बारे में उठने वाले विचार ही केवल आत्मानुभव को नहीं ढकते हैं, बल्कि वे विचार जो हमारे मन के धरातल तक नहीं उठ सके और हमने जिन्हें दबा दिया, वे भी हैं। इसके साथ ही साथ, कुछ ऐसे विचार, जो अदृश्य कहे जाते हैं, जिनके विषय में कभी भी अपने मन में सोचा नहीं, तथा इनके भी नीचे एक और तरह के विचारों की तरंगें होती हैं। ये सब अलग-अलग सतहों पर प्रवाहित होती हैं। इन्हीं सबों के योग को हिरण्यगर्भ कहा जाता है।

हमारे शास्त्रों में मनस्, अंतस् और हिरण्यगर्भ, इन तीन शब्दों का बहुधा उपयोग हुआ है। अन्तस् का अर्थ होता है अंत:करण। वह चार चीजों से बना है – मन (सोचने की क्षमता वाला), बुद्धि (तर्क की क्षमता वाला), चित्त (पुरानी बातें को याद दिलाने वाला, जिसमें प्राचीन संस्कारों का स्मरण दिलाने की क्षमता होती है) तथा अहंकार, जिसमें अपनी स्थिति का अनुभव कराने की क्षमता होती है (*अहं अस्मि इति भाव: कारयेत*)। अपनी व्यक्तिगत सत्ता को वर्तमान रखने के लिये अंत:करण में अहंकार रहता है। जिस दिन यह समाप्त हो जावेगा, उस दिन व्यक्तित्व का ही नाश हो जावेगा। मनुष्य अचेतन मन से इस बात की हमेशा घोषणा करता रहता है कि मैं हूँ। इस प्रकार सोचने की जितनी भी क्रियाएँ हैं, सभी चेतन मन की सीमा के भीतर आती हैं। इसके सिवाय एक और शरीर है जिसको सूक्ष्म-शरीर कहते हैं। केवल चिंतकों ने ही इसका अनुभव किया है। इसके भी परे एक अचेतन व्यक्तित्व होता है। वेदान्त इसे कारण-शरीर कहता है। इन सबों के योग को ही पतंजलि महर्षि ने 'चित्त' की संज्ञा दी तथा वेदों ने 'हिरण्यगर्भ' कहा। हम लोग इसे 'मन' कहते हैं।

हमारे मन में उठने वाले स्थूल विचारों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी विचार हैं, जिनका हमें पता नहीं चलता है। इस प्रकार के कुछ विचार या तो स्वप्न

में प्रगट होते हैं या कुछ ध्यान में। पर इसके सिवाय कुछ ऐसे विचार हैं जो न तो ध्यान और न स्वप्न में ही प्रगट होते हैं। वे रोग के रूप में हमारे सामने प्रगट होते हैं। परन्तु इसके भी परे कुछ ऐसे विचार हैं, जिसे हमारी चेतना प्रगट होने ही नहीं देती। संभव है, उनके प्रगट होने पर व्यक्ति का संपूर्ण व्यक्तित्व ही छिन्न-भिन्न हो जाय। ऐसे विचार जो छटपटा कर अन्दर ही रह जाते हैं, उन विचारों से अनजाने में हमारी इन्द्रियाँ प्रभावित होती हैं, और उनके प्रभाव में आकर इन्द्रियाँ कुछ-से-कुछ कर देती हैं। हमारे अनजान कर्म कुछ ऐसी ही परिस्थितियों में होते हैं। उदाहरण के लिये, कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो बैठे-बैठे पाँव हिलाते रहते हैं, या अपनी ही दाढ़ी को नोचते रहते हैं या मूछें ऐंठते रहते हैं। इन सबों के पीछे कोई-न-कोई हल्का या गहरा विचार काम कर रहा है।

विचारों की शृंखला में सबसे कठिन उन विचारों को जानना है, जो अभी हमारे मन में उठ रहे हैं। आधुनिक मनोविज्ञान में इस पर अनेक अनुसंधान हुए, तथा योगियों ने इसकी खोज के पीछे, अपने आपको ही स्वाहा कर दिया, पर कुछ पता नहीं चला। लेकिन यह कहना कहीं अधिक आसान है कि दो घंटे पहले हमारे मन में कौन-से विचार आये थे, या कुछ दिन पहले कौन-से विचार आये थे। अभी जो विचार उठ रहे हैं उन्हें हम विचार की दूसरी पंक्ति कहते हैं। यह भी हिरण्यगर्भ में से आता है। हिरण्यगर्भ के ढक्कन हटाने की प्रक्रिया में इन सबों को हटाना पड़ेगा। आप चाहे जो भी करें, ध्यान, अंतर्मौन, योगाभ्यास, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, आपको अपने इन विचारों को देखना ही होगा और इनसे छुट्टी पानी ही होगी। यह चेतना का दूसरा स्तर हुआ।

चेतना का तीसरा स्तर भी होता है, जिसे कारण-शरीर कहते हैं। इसकी ठीक-ठीक व्याख्या हमलोगों के शास्त्रों में भी नहीं है। वैसे कर्म, जिन्हें किसी कारण जीव भोग नहीं सकता और जो प्रारब्ध भी नहीं बन पाते हैं, वे सब कारण-शरीर के गोदाम में जमा हो जाते हैं। ये अप्रत्यक्ष रूप से हमारे कर्मों को प्रभावित करते हैं। ये भी हिरण्यगर्भ के अन्दर ही आते हैं। जब तक हम अपने मन को अच्छी तरह समझ नहीं लेते, तब तक आत्मा को समझना कठिन है। इसका कारण है कि वह इन्हीं के ढक्कन से बंद है। ढक्कन हटाने के लिये हमें इनका स्पर्श करना ही होगा।

जिस प्रकार कभी-कभी आकाश में मेघों से सूर्य ढक जाता है, ठीक उसी प्रकार, हमारे अन्दर जो सत्य है, वह हिरण्यमय-पात्र से ढका रहता है। यह

हिरण्यमय-पात्र हमारे चित्त की समष्टि है। हमारे योग शास्त्रों में या अन्य धार्मिक विधानों में भी, इसी ढक्कन को धीरे-धीरे हटाने की प्रक्रिया बताई गयी है। इसको हटाये बिना चाहे कोई कितना ही प्रयत्न क्यों न करे, उस ज्योति-स्वरूप आत्मा का दर्शन नहीं हो सकता है, क्योंकि हमारे और आत्मा के बीच एक अभेद्य दीवार जो खड़ी है। यदि इस मन की दीवार को लाँघ सके तो वहाँ पहुँच सकना सम्भव हो सकता है।

आत्मानुभव या ब्रह्मानुभव कोई दूर की चीज नहीं है। आवश्यकता है कि बाहर की दौड़-भाग छोड़कर थोड़ा अन्दर जाने की कोशिश की जाय। पर होता क्या है? अधिकतर लोगों को यह भी नहीं मालूम कि ईश्वर कहाँ है, और लगे उसकी खोज में चक्कर लगाने। नतीजा होता है कि गलत जगह पहुँच जाते हैं।

हमारी प्रक्रिया में शब्दों के फेर कुछ हो सकते हैं, पर बात एक ही है। शिवलोक, गोलोक, वैकुण्ठ, समाधि और निर्वाण, सभी एक ही पद के अनेक नाम हैं। इसी एक को प्राप्त करने के लिये लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से सोचते हैं। कुछ तो तीर्थ-व्रत में ही इसको सीमित कर देते हैं, पर वही केवल-मात्र उपाय नहीं है। जो स्वयं रास्ता नहीं जानते, वे पूछने पर कुछ-न-कुछ बतला देने का कष्ट करते हैं। यदि कोई किसी से कलकत्ता जाने का रास्ता पूछे और उत्तर में वह केवल इतना ही कहे कि रेलगाड़ी से जाया जाता है तो क्या इस निर्देश से कोई वहाँ पहुँच सकता है? इसके लिये पूरा नक्शा बताना पड़ेगा।

दूसरी बात, यदि कोई आत्मा, ईश्वर या सत्य-धर्म को अपने से अलग कहीं अन्यत्र देखने की चेष्टा करेगा तो वह कभी भी नहीं देख सकता है, और यदि अपने अन्दर मानता है तो दूसरे से इसके प्रमाण की आवश्यकता ही क्या है। केवल अपनी वृत्तियों को कछुवे की तरह थोड़ी देर के लिये समेट ले और स्वयं अनुभव करे।

लेकिन अनुभव से पता चलता है कि जब हम अन्दर जाने की चेष्टा करते हैं, तो चित्त की वृत्तियाँ, इन्द्रियों की वृत्तियाँ तंग करती हैं। जब और आगे बढ़ते हैं तो संस्कार तंग करते हैं। उससे भी आगे लय की अवस्था परेशान करती है। यह हमारा मन है, हिरण्यमय-पात्र है। इसे हटाना ही होगा।

इस हिरण्यमय-पात्र को हटाने में सहायता करने वाला, हमारे ही अन्दर का एक पोषण तत्त्व है। उस अमृत-तत्त्व को जागृत करना होगा। संतों ने अपने

पदों में, 'रस गगन गुफा में अजर झरे' कहकर इसका वर्णन किया है। योग में इसके लिये खेचरी मुद्रा का अभ्यास कराया जाता है।

खेचरी दो प्रकार की होती है, एक राजयोग की तथा दूसरी हठयोग की। हठयोग की खेचरी में जिह्वामूल का छेदन कर इसे इतना लम्बा बना दिया जाता है कि वह बाहर तो भ्रूमध्य को छूने लगती है, तथा अन्दर नासिका-रंध्र को। वह कपाल कुहर में प्रवेश करती है। राजयोग की खेचरी में जिह्वा को उलटकर तालू-मूल से सटा दिया जाता है, जो कुछ दिनों में धीरे-धीरे स्वयं कपाल-कुहर में प्रवेश कर जाती है। नासिका-रन्ध्र में जाने के बाद अमृत-स्राव होने लगता है। वहाँ अमृत-ग्रन्थि का उद्‌भव केन्द्र है। अमृत-ग्रन्थि बिन्दु-चक्र के नीचे होती है। कहा जाता है कि वहाँ एक छोटा द्वीप जैसा है, और उसके बीच में चिन्तामणि कल्पतरु है – चारों तरफ 'विटप वाटी परितटे'। इसमें बहुत थोड़ा रस होता है। साधारण व्यक्ति का यही अमृत-रस नाभि-चक्र में आकर नष्ट हो जाता है। इसी तथ्य को संतों की भाषा में कहा जाता है कि चन्द्रमा से अमृत गिरता है और सूर्य उसे पी जाता है। पर योगी उसे वहाँ नष्ट न होने देकर, ऊपर ही रोकते हैं। जिस समय वह अमृत-रस शरीर से मिलता है, उसी क्षण शरीर कान्तिवान् हो जाता है। अन्दर प्रकाश छा जाता है।

यदि भौतिकवादी दृष्टिकोण से इस मंत्र की व्याख्या की जाय, तो कहा जा सकता है कि हे पोषण करने वाले अमृत-रस! तुम उस अन्धकार को, जिसे मन, संस्कारों और अविद्या ने उत्पन्न किया है, हटा लो। पर आध्यात्मिक अर्थ में तो यही कहा जायेगा कि हिरण्यमय-पात्र को हटाओ, जिससे सत्य ढका है।

सत्य-धर्म अन्य सभी धर्मों से भिन्न है। वह स्वयं धर्म है। उसका कोई अलग धर्म नहीं होता। वह त्रिकाल सत्य होता है। वह अंत:करण, इन्द्रिय, संस्कार, अविद्या और तीनों गुणों से भिन्न है।

इस सत्य-धर्म या आत्मा का दर्शन गूँगे के गुड़ की तरह है। जो चखता है वह व्यक्त नहीं कर सकता। एक विचित्र आनन्द का अनुभव करता है। वह आनन्द न तो सुख ही है, न दु:ख। इन दोनों से परे है, जिसका आज तक वर्णन नहीं हो सका। लेकिन वहाँ तक पहुँचने के लिये जीव को सात पर्दों को भेदना पड़ता है, उसके बाद सत्त्व-लोक की प्राप्ति होती है, जहाँ वह उस आनन्द को प्राप्त करता है। गायत्री की उपासना करते समय साधक इन्हीं सात लोकों को प्रकाशित करने की कामना करता है। ये सात लोक

हैं – भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनोलोक, तपोलोक और सत्यलोक। स्वर्लोक तक मन की गति है, उसके बाद तो संस्कारों की भी गति नहीं होती है। सत्यलोक में केवल अनुभव होता है। ये मानव चेतना के सात धरातल हैं। उनके एक-एक स्तर में पर्दा है, जिसे भेदना पड़ता है। गायत्री-मंत्र में 'धियो' शब्द का प्रयोग बहुवचन में इन्हीं धरातलों के विषय में हुआ है। इसमें भी आध्यात्मिक चेतना के सातों धरातलों को प्रकाशित करने के लिये, उसी पूषण से कहा गया है। वेदों में पूषण शब्द सूर्य के लिये व्यवहृत हुआ है, पर वह कौन सूर्य है? एक सूर्य तो वह नक्षत्र है, जिसे हम जलते हुए अग्निपिण्ड के रूप में देखते हैं, दूसरा हमारे अन्दर है। उसे हम सूर्यनाड़ी कहकर पुकारते हैं। हमारे अन्दर इड़ा और पिंगला को क्रमश: चन्द्रनाड़ी और सूर्यनाड़ी कहा जाता है। सूर्यनाड़ी के जागृत होने से मानव-चेतना प्रकाशित होने लगती है।

सूर्य प्रकाश का देवता माना गया है। इसे सविता, सावित्री या गायत्री आदि अनेक नामों से पुकारा गया है। योगिराज अरविन्द का सावित्री-काव्य कुछ इसी दिशा को इंगित करता है।

पर इन सारी बातों के बावजूद यहाँ यही कहा जा सकता है कि इस मंत्र में उस आत्मा के ही प्रति निवेदन है, जिसे हम जानना चाहते हैं। उसे ही सम्बोधित कर कहा गया है कि वह अविद्या के पर्दे को हटा ले।

षोडश मंत्र

**पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत्ते रूपम् कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥16॥**

अन्वय एवं शब्दार्थ

पूषन्= हे पोषण करने वाले, *एकर्षे*= ज्ञान स्वरूप, *यम*= सब के नियन्ता, *सूर्य*= सूर्य, *प्राजापत्य*= हे प्रजापतियों के प्रिय (प्रजापति इन्द्रियों को कहते हैं), *रश्मीन्*= प्रकाश किरणों को, *व्यूह*= इकट्ठा करना, तेजः = इस तेज को, *समूह*= एकत्रित, *यत्*= जो, *ते*= आपका, *कल्याणतमम्*=अतिशय कल्याणमय, *रूपम्*= रूप, *तत्*= उस, *ते*= आपके, *पश्यामि*= देख रहा हूँ, *यह*= जो, *असौ*= वह, *पुरुषः*= परम पुरुष, *अहम्*= मैं, *सः अस्मि*= वही हूँ।

अनुवाद

साधक आत्मानुभूति करना चाहता है। वह आत्म-तत्त्व से ही निवेदन करता है कि हे पोषण करने वाले! हे ज्ञान-स्वरूप प्रकाशमय सूर्य! हे प्रजापतियों के प्रिय! प्रकाश किरणों को फैलाओ, जिससे मैं तुम्हारे कल्याणमय स्वरूप को देख सकूँ। यह अनुभूति हो कि मैं वही हूँ। जिस स्वरूप को मैं देखता हूँ, मुझमें और उसमें कोई अन्तर नहीं है।

अध्यात्म-मार्ग में दो बातें प्रमुख हैं, एक है साधन, और दूसरा साध्य। अनेकों उपासक गलती से साधन को ही साध्य मान बैठते हैं। पूजा या जप, जिसकी महत्ता शास्त्रों में बताई गई है, वे साधन ही हैं, साध्य नहीं हो सकते। साध्य तो केवल मात्र आत्म-दर्शन है, आत्मानुभूति है। जिस समय आत्म-दर्शन होने लगता है, सभी साधनायें स्वयं समाप्त हो जाती हैं। प्रस्तुत

उपनिषद् में जितनी भी साधनायें, विद्या-अविद्या, संभूति-असंभूति, या कर्म-अकर्म की बातें बतलाई गई हैं, सब-की-सब एक स्थल पर आकर स्वयं समाप्त हो जाती हैं। ये सभी साधनायें बहिरंग हैं। इसके बाद एक दूसरी ही साधना प्रारम्भ होती है।

इन्द्रियों के द्वारा हम जिन साधनाओं को करते हैं, वे सभी बहिरंग हैं, चाहे वह राजयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग या कर्मयोग ही क्यों न हो। वैसे तो शास्त्रों में लिखा है कि यम-नियम, आसन एवं प्राणायाम बहिरंग-साधना है, और प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि अंतरंग-साधना। एक अन्य जगह लिखा है कि अपरा-भक्ति बहिरंग साधन है और पराभक्ति अंतरंग। वैसे ही कर्म बहिरंग, अनासक्ति अंतरंग। सत्संग बहिरंग साधन है, तथा चिंतन-मनन अंतरंग। पर यदि अनुभव के आधार पर देखा जाय तो एक स्थिति में पहुँचने पर उपरोक्त सब-के-सब बहिरंग हो जाते हैं। प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की दृष्टि में आसन, प्राणायाम, यम और नियम बहिरंग साधन हैं। इन्द्रियों के द्वारा की जाने वाली साधनायें बहिरंग हैं, और इनकी अपेक्षा मन के माध्यम से की जाने वाली साधनायें अंतरंग। लेकिन यदि इनकी तुलना बुद्धि के माध्यम से की जाने वाली साधना से की जाय, तो मन के द्वारा की जाने वाली साधनायें बहिरंग जान पड़ेगीं और बुद्धि से की जाने वाली अंतरंग। इसी प्रकार मन, बुद्धि, इन्द्रिय और चित्त की समान क्रियाओं के आधार पर की जाने वाली सभी साधनायें बहिरंग ही हैं। इस प्रकार एक स्थिति आती है, जब इन्द्रियों के द्वारा की जाने वाली तपस्या, मन के द्वारा किया जाने वाला ध्यान, बुद्धि के द्वारा किया जाने वाला आत्म-निर्णय, और चित्त के द्वारा देखे जाने वाले प्राचीन संस्कार आदि सब-के-सब एक जगह पर पहुँचकर ठप्प हो जाते हैं।

कल्पना कीजिये कि आप किसी अंधेरी सुरंग से गुजर रहे हैं। कुछ दूर तक तो बाहर का प्रकाश आपकी सहायता करता है, जिसके आधार पर आप आगे बढ़ते हैं। कुछ और आगे बढ़ने के बाद अंधकार और भी गाढ़ा हो जाता है। पर आप रास्ता सीधा होने के कारण कुछ और आगे बढ़ते हैं। पर एक ऐसा भी स्थल आता है, जहाँ पहुँचने पर लगता है कि सामने का रास्ता एक दीवार से बंद है। अगल-बगल चारों ओर मीलों अंधेरा रास्ता है, जिसका कोई पता नहीं। यहाँ यदि सामने का रास्ता स्वयं खुल जाय तो संभव है कि आप आगे बढ़ सकते हैं, अन्यथा क्या उपाय है? बस यही स्थिति ध्यान के

मार्ग की है। यद्यपि तीन अक्षरों के योग से बना समाधि शब्द बड़ा सरल मालूम पड़ता है, पर यह स्वयं गम्य है ही नहीं, भले ही पुस्तकों में लिखा रहे कि समाधि प्रत्येक मानव का जन्मसिद्ध अधिकार है। एक खास स्थिति तक या यूँ कहे कि सूक्ष्म की स्थिति तक आप स्वयं जा सकते हैं, यहाँ तक कि कारण-शरीर में भी कुछ हद तक बढ़ सकते हैं। चेतना के भी कुछ स्तरों को भेद सकते हैं, क्योंकि ज्यो-ज्यों आप ध्यान में आगे बढ़ते हैं, आपकी चेतना क्षीण पड़ती जाती है, पर एक ऐसी स्थिति आती है, जहाँ आप स्वयं शून्य हो जाते हैं, आप बुत बनकर बैठ जाते हैं। आपको पता ही नहीं रहता कि आप कौन हैं, और कहाँ जाना चाहते हैं। यहाँ से आगे साधक तब तक नहीं बढ़ सकता है, जब तक कि उसे बढ़ाने वाला कोई गुरु न हो। यही कारण है कि इस मंत्र में आत्म-दर्शन के लिये स्वयं आत्म-तत्त्व से अनुरोध किया गया है। वह जिसका रूप देखना चाहता है, उसी से अनुरोध करता है।

यहाँ एक और विषय का बोध होता है। अध्यात्म की इस स्थिति में भी साधक को द्वैतबुद्धि रहती है। उपासक और उपास्य की यह द्वैत बुद्धि नहीं रहती तो वह उस महान सत्ता से इस प्रकार प्रार्थना नहीं करता। अब प्रश्न उठता है कि अध्यात्म की इस स्थिति को प्राप्त करने के लिये किसका सहारा लिया जाय? कुछ लोगों की राय है कि गुरु ही एकमात्र आलम्बन है, पर कुछ के अनुसार स्वयं भगवान ही आलंबन है। कुछ ऐसा भी मानते हैं कि बिना इस पर सोचे केवल साधना करते जाना चाहिये।

केवल किसी को गुरु बना लेने मात्र से ही वह श्रेष्ठ आलंबन हो जाय, ऐसी बात नहीं है। ध्यान की उस स्थिति में जहाँ व्यक्ति का जीव-भाव नहीं रहता, उसकी व्यक्तिगत चेतना नहीं रहती, उसको आगे गुरु ही ले चलता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जब साधक की चेतना अंतर्लोकों में गमन करती है तो वहाँ एक स्थल पर वह रुक जाती है। वहाँ से उसे गुरु का सूक्ष्म-रूप ही आगे ले जाता है। गुरु में इतनी शक्ति रहनी चाहिये कि वे स्थूल रूप में तो रहें, पर सूक्ष्म रूप में भी रह सकें। जिस गुरु का सूक्ष्म-रूप प्रबल होगा, वही साधक को सूक्ष्म अवस्था में आगे ले जा सकता है।

हमारे यहाँ 'गुरु' शब्द दो अर्थों में व्यवहृत हुआ है। एक तो अंधकार का निवारण करने वाला गुरु होता है, दूसरा वह जिससे हम मंत्र-दीक्षा लेते हैं। गुरु वह है, जो हमारी अध्यात्म-साधना में पथ-प्रदर्शक का काम करता है। हमारे शरीर के अन्दर एक प्रमुख-चक्र है जिसे हम 'आज्ञा चक्र' कहते हैं। कुछ लोग

इसे गुरु-चक्र भी कहते हैं। इसका स्थान भ्रूमध्य के पीछे जहाँ सुषुम्ना समाप्त होती है, वहीं है। इसकी एक अपनी विशेषता है। साधना के सिलसिले में ज्यों-ज्यों साधक की बाह्य चेतना अचेत होती जाती है, उसी अनुपात में यह चक्र जगता जाता है। एक ओर मन, बुद्धि, चित्त और इन्द्रियों का लोप होते जाता है, तथा दूसरी ओर इष्ट-देव का चित्र स्पष्ट होता जाता है और इसके साथ-ही-साथ आज्ञा-चक्र जाग्रत होता जाता है। ज्यों ही इन्द्रियाँ बहिर्मुख हुईं कि वह अन्दर गया। ध्यान की अवस्था में उन्हीं का आज्ञा चक्र जागृत होता है, जिनकी इन्द्रियाँ कम चंचल हैं और मन एक हद तक शांत तथा अनासक्त है। कुछ ऐसे भी हैं जिनका आज्ञा चक्र ध्यान तथा ध्यान के बाहर भी जाग्रत रहता है, पर ऐसे व्यक्ति विरले ही मिलते हैं।

ध्यान की अवस्था में जब आदेश ग्रहण करने वाली प्रत्येक इन्द्रिय सो जाती है, तब यही आज्ञा चक्र गुरु का सूक्ष्म आदेश ग्रहण करता है। इसके सिवाय अनुभव के सभी झरोखे बन्द हो जाते हैं।

स्थूल और सूक्ष्म के बीच एक पर्दा है, स्वर-निरोधक के जैसा। जब कोई स्थूल अवस्था में रहता है तो उसे सूक्ष्म स्वर सुनाई नहीं देता और जब सूक्ष्म में चला जाता है, तो स्थूल आवाज सुनाई नहीं देती। एक क्षेत्र में होने वाले अनुभव का प्रवेश दूसरे क्षेत्र में नहीं हो पाता है। ध्वनियों का प्रतिक्षण आन्दोलन होता है और हमारी इन्द्रियाँ एक खास हद तक होने वाले कम्पन को पकड़ने की क्षमता रखती हैं, न अधिक न कम।

गुरु जिन शब्दों के माध्यम से शिष्य को आदेश देता है, वे शब्द सूक्ष्म होने चाहिये। गुरु भी ऐसे हों जो शब्दों की सूक्ष्म प्रेषण कला को जानें। ये शब्द विचारों से उत्पन्न नहीं होते हैं, क्योंकि विचार तो मन से पैदा होते हैं। वे सूक्ष्म कैसे हो सकते हैं? वे शब्द केवल गुरु की आत्म-प्रेरणा से उत्पन्न होते हैं। इसीलिये जो गुरु सूक्ष्म में रहते हैं, वे ही सूक्ष्म शब्द पैदा कर सकते हैं, पर यह कितना कठिन है। सदा सूक्ष्म में रहना सम्भव नहीं। इस अवस्था में कर्म-क्रिया नहीं होती है। एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकती हैं। इसके लिये क्रिया-कर्म, जगत् के बंधन, सुख-दुःख से दूर, इन्द्रिय, मन, और बुद्धि के भी ऊपर, शुभ या अशुभ, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, जो भी प्रभाव हो छोड़ना पड़ता है।

ऐसा गुरु शायद ही मिलता है। यद्यपि उसकी सभी इन्द्रियाँ स्वाभाविक कार्य करती हैं, पर वह रहता है सूक्ष्म में। ऐसा गुरु जब अपने शिष्य को शब्दों

का बाण मारता है, तब उसके आज्ञा चक्र में एक प्रकार की प्रतिस्फूर्ति होती है, जो उसे साधना-पथ पर आगे ले जाती है। जिस समय शिष्य को यह शब्द-बाण लगता है, उसे ऐसा अनुभव होता है जैसे वह किसी अन्धेरे कमरे से आगे निकल गया हो, और एक बहुत बड़े क्षेत्र में पहुँच गया हो। वह दुनिया स्वप्नों या संस्कारों की दुनिया जैसी दिखलाई नहीं देती। वह देखने में बिल्कुल स्थूल जगत् जैसी लगती है, जहाँ सभी कार्यकलाप, अनुभव, स्पर्श आदि ठीक बाह्य जगत् जैसे ही होते हैं। यह अंतर्जगत् ठीक बाह्य-जगत् के जैसा ही है, केवल एक फर्क है। बाह्य जगत् नाशवान है, अंतर्जगत् अविनाशी। उस जगत् में पहुँचने के बाद यह जगत् एक बार असत्य दिखाई पड़ने लगता है। यह तभी सम्भव है जब आज्ञा चक्र खुल जाता है, और वहाँ गुरु का आदेश सुनाई पड़ने लगता है। इसके आगे साधक को गुरु के शब्द को छोड़कर कोई साधना सुनाई नहीं देती। यहाँ तक तो उसने अनेक उपाय कर आज्ञा चक्र को जगाया। इसके आगे गुरु के ही शब्द ले जाते हैं। आगे बढ़ने के बाद वह आत्मा के प्रकाश का अनुभव करता है और देखता है कि मैं और मेरी आत्मा, दोनों एक हैं। दोनों के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं। 'जानत तुमहि तुमहि होई जाई,' वाली बात होती है। यही राजयोग, कर्मयोग, या अन्य साधनाओं का साध्य है।

सप्तदश मंत्र

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त ँ् शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृत ँ् स्मर क्रतो स्मर कृत ँ् स्मर ॥17॥

अन्वय एवं शब्दार्थ

अथ= अब, *वायु:*= वायुतत्त्व, *अमृतम्*= अविनाशी, *अनिलम्*= अग्नि-तत्त्व, *(प्रविशतु)*= प्रविष्ट हो जाय, *इदम्*= यह, *शरीरम्*= स्थूल शरीर, *भस्मान्तम्*= जो भस्म होगा, *ॐ*= प्रणवोच्चार, *क्रतो*= विष्णु, *स्मर*= स्मरण करें, *कृतम्*= किये हुए कर्मों का, *स्मर*= स्मरण करें, *क्रतो*= विष्णु, *स्मर*= स्मरण करें, *कृतम्*= कर्मों का, *स्मर*= स्मरण करें।

अनुवाद

साधना के क्रम में एक ऐसी स्थिति आती है, जब साधक का वायु तत्त्व अग्नि तत्त्व में प्रवेश करता है और पुन: अमृत तत्त्व में। ऐसी स्थिति आने पर दो बातों का स्मरण करना चाहिये, एक प्रेरक तत्त्व का जो सभी कर्मों का सूत्रधार या कर्त्ता है, तथा दूसरा अपने कर्मों का। लेकिन स्थूल शरीर जिसका अंत निश्चित है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है।

यह ध्यान की ऊँची स्थिति का वर्णन है। साधक के अन्दर दो महान् शक्तियाँ हैं, एक कर्म करने की तथा दूसरी कर्म कराने वाली। कर्म कराने वाली शक्ति को यहाँ क्रतु कहा गया है। क्रतु विष्णु या ईश्वर शक्ति को कहते हैं। इन्द्रियाँ कर्म करती हैं पर उनके पीछे एक प्रेरक शक्ति होती है। बिना उस महान् संकल्प-शक्ति के शरीर कोई कर्म नहीं कर सकता। यही संकल्प-शक्ति ईश्वर की प्रेरक शक्ति है। वह इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति का सहारा लेकर, शरीर को आधार बनाकर संसार के सभी कर्मों का निष्पादन करती है। इन्द्रियाँ अपने निहित कर्मों को तभी करती हैं, जब जीव का संकल्प जाग्रत होता है।

ध्यान की ऊँची स्थिति में इन्द्रियों के अनुभव समाप्त हो जाते हैं। वे अंतर्मुखी हो जाती हैं। यह दूसरी बात है कि किसी खास व्यक्ति का सहज-भाव बना रहता है। ऐसे संतों की संख्या बहुत कम होती है। कबीर की 'साधो, सहज समाधि भली,' कितनों को प्राप्त हो सकती है? मनुष्य की इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और प्राण, ये सभी स्थूल ही हैं। इन सबों के परे भी एक सूक्ष्म स्थिति है जिसे परम-चेतन कहते हैं। इस स्थिति का अनुभव कैसा होता है, इसके बारे में कुछ भी कहना कठिन है, पर शास्त्र कहता है कि वह परम-आनन्द की अवस्था है।

ध्यान की अवस्था में साधक के अन्दर योगाग्नि का उदय होता है। जिस प्रकार अग्नि में गन्दी-से-गन्दी वस्तु भी क्यों न डाल दी जाय, जलकर अग्नि ही हो जाती है, ठीक उसी प्रकार जब मन, बुद्धि, चित्त और इन्द्रियाँ इस अग्नि में प्रवेश करती हैं तो उनके कल्मष भी दूर हो जाते हैं। वे पवित्र हो जाती हैं। संस्कारों की उर्वरा-शक्ति समाप्त हो जाती है, भुने हुए बीज की तरह।

इन्द्रियों का और मन का कलंकित होना स्वाभाविक है। जन्म-जन्मांतरों का अभ्यास, स्वभाव और संस्कारों का आवरण इस पर चढ़ा हुआ है। न तो इसका कभी शोध हुआ और न सफाई। युगों से यह मैल जीव पर चढ़ती आई है। इसके चलते हमारा स्वभाव, हमारी दृष्टि ही बदल गई है। हमारी आँखों को बुरी बातों को देखने का स्वभाव-सा हो गया है। अच्छी बातें उन्हें जंचती ही नहीं, कानों को निन्दा सुनने की आदत हो गई है। इन्द्रियों का स्वभाव ही है कि वे अशुभ को जल्दी ग्रहण करती हैं। शुभ को ग्रहण करने की उनकी क्षमता सीमित है। मन और इन्द्रियों पर यदि अच्छी आदतें डाली भी जाएँ, अच्छी बातें कही भी जाएँ, फिर भी उनका प्रभाव नहीं पड़ता है। वे जहाँ की तहाँ ही रह जाती हैं। यही कारण है कि बचपन से ही आदमी पर संयम की आदत डाली जाती है। असंयम तो वह स्वयं सीख लेता है। क्षमा सिखलानी पड़ती है, क्रोध नहीं। पवित्रता का पाठ पढ़ाया जाता है, अपवित्रता स्वयं स्वभाव से मनुष्य सीख लेता है। चिन्ता और क्रोध को दूर करने के लिये चाहे जितने भी ग्रंथ पढ़े जाएँ, वे दूर नहीं होते। इसका कारण है कि हमारे मन, व्यक्तित्व और इन्द्रियों पर संस्कारों की मैल कुछ इस तरह चढ़ी हुई है कि वह धोये भी नहीं धुलती।

इसीलिये ध्यान की अवस्था में साधक अपने मन और इन्द्रियों को अंतर्मुख करता है। वायु तत्त्व को अग्नि तत्त्व में डाल देता है। यह सूक्ष्म अग्नि है।

इसका कोई स्वरूप नहीं, लेकिन जब साधक का मन और इन्द्रियाँ ध्यान की इस अग्नि में वर्षों जलते हैं, तब उनके कल्मष दूर हो जाते हैं। इसके बाद केवल अविनाशी ही बच जाता है। जब तक इन्द्रियाँ और मन ध्यान की इस अग्नि में जल-जल कर अपने को पवित्र नहीं कर लेते, तब तक अमृत तत्त्व में प्रवेश संभव नहीं। उसका अनुभव भी नहीं होता है। अमृत का अनुभव या आत्मा का अनुभव, इस जगत् में संस्कारों के रहते सम्भव नहीं है। इसलिये यहाँ साधना की तीन सीढ़ियों का संकेत किया गया है। पहले वायु तत्त्व को योग तत्त्व में जलाया जाय, पुनः शुद्ध होने के बाद अमृत तत्त्व में प्रवेश कराया जाय। स्थूल लोकों से (भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक) होकर साधक की चेतना सूक्ष्म अमृत लोक में प्रवेश करती है, पर इस शरीर की अवस्था में कोई परिवर्तन नहीं होता है। शास्त्र कहता है कि यह नाशवान् है। यह तो अंत में भस्म होगा ही। अमृत तत्त्व की प्राप्ति केवल जीव-चेतना को होती है। इसका प्रभाव स्थूल शरीर पर नहीं पड़ता।

इधर हाल के अनुभवों से तो पता चलता है कि इसका प्रभाव स्थूल शरीर पर भी पड़े बिना नहीं रहता। हाँ, उसके प्रभाव की मात्रा में थोड़ा बहुत अन्तर भले ही हो। संतों ने इस शरीर को भले ही महत्त्व नहीं दिया हो। पर प्राणायाम से शरीर के अशुद्ध तत्त्व जल जाते हैं। रोग का निवारण होता है। देखा तो ऐसा गया है कि मृत्यु के बाद भी योगियों का मृतक शरीर ज्यों-का-त्यों पड़ा रह गया। कहा जाता है कि समाधि के बाद कई दिनों तक स्वामी योगानन्द का शरीर, जैसा-का-तैसा पड़ा रह गया। उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। कई जगहों पर तो योगियों ने गुरु के शरीर को वर्षों सम्हाल कर रखा और वह रहा भी। हठयोगियों ने इस ओर कुछ काम किया भी है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में ऐसी चर्चा आयी है, जहाँ कहा गया है कि योगाग्नि से शोधा हुआ शरीर अविनाशी हो जाता है। हाँ, यह बात दूसरी है कि साधक का देहाध्यास मिट जाता है। वह शरीर की चिन्ता ही नहीं करता, पर जैसे-जैसे वह अंतर्मुख होता जाता है, वैसे-वैसे उसका निश्चित प्रभाव उसके हृदय, आंत, रक्तचाप, गुर्दा, आदि पर भी पड़ता है, मस्तिष्क पर तो पड़ता ही है।

जब साधक तपकर अमृत-तत्त्व में प्रवेश करता है, तब उसे केवल एक ईश्वर का और अपने कर्मों का स्मरण करना चाहिये, और वैसा होता भी है। वह स्थिरचित्त और सजग रहता है।

अष्टादश मंत्र

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥18॥

अन्वय एवं शब्दार्थ

अग्ने= हे अग्निदेवता, *अस्मान्*= हमें, *राये*= आत्मा की प्राप्ति के लिये, *सुपथा*= शुभ (उत्तरायण) मार्ग से (अनुभूति के रास्ते से जिसमें लय न हो), *नय*= ले चलिये, *देव*= हे देव (आप), *विश्वानि*= संपूर्ण, *वयुनानि*= कर्मों को, *विद्वान्*= जानने वाले (हैं), *अस्मत्*= हमारे, *जुहुराणम्*= इस मार्ग के प्रतिबन्धक, *एन:*= (जो) पाप हों, *युयोधि*= दूर कर दीजिये, *ते*= आपको, *भूयिष्ठाम्*= बार बार, *नम उक्तिम्*= नमस्कार के वचन, *विधेम*= हम कहते हैं (बार-बार नमस्कार करते हैं)।

अनुवाद

हे अग्निदेवता, हमें आत्म प्राप्ति के लिये शुभ रास्ते से ले चलिये। हे देव! आप सम्पूर्ण कर्मों को जानने वाले हैं। हमारे मार्ग की बाधाओं को दूर कर दीजिये। आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ।

प्रस्तुत मंत्र में साधक अग्नि से प्रार्थना करता है। यह मंत्र इसके पूर्व भी यजुर्वेद में पाँच जगहों पर और ऋग्वेद में दो जगहों पर आ चुका है। साधक अग्नि से कहता है कि वह उसे ठीक रास्ते से ले जाय लेकिन वह ठीक रास्ता है कौन? पिछले अध्यायों में अनेक रास्तों का वर्णन आया है। शुक्लमार्ग और कृष्णमार्ग तथा उत्तरायण और दक्षिणायन का मार्ग – एक लय का, एक अनुभूति का। साधक अग्नि से कहता है कि वह उसे अनुभूति के रास्ते से ले जाय, लय के मार्ग से नहीं। जिसमें अन्दर चेतना रहे, और बाहर जड़ता। स्वामी शिवानन्द जी उसे जाग्रत निद्रा के नाम से पुकारते थे। उस अवस्था में

साधक मन और इन्द्रियों के जगत् में सोता है, और आत्मा के जगत् में सतत् जाग्रत रहता है।

अग्नि से यहाँ योगाग्नि का बोध होता है। इसका उत्पत्ति स्थान मूलाधार है, और वह मणिपुर में प्रगट होती है। मूलाधार के अधोमुखी त्रिकोण में यह अग्नि जलती है और ऊर्ध्वगति से अग्रसर होते हुए साधक को आगे ले जाती है। मूलाधार से मणिपुर का क्षेत्र अन्धकार का क्षेत्र है। इस क्षेत्र में अग्नि का अनुभव नहीं होता। मूलाधार और मणिपुर के बीच स्वाधिष्ठान चक्र, निद्रा, क्रोध, तमोगुण और काम वासना का लोक है। जब साधक की चेतना की प्रतिष्ठा स्वाधिष्ठान में होती है, तो उस समय मनुष्य की सारी कुप्रवृत्तियाँ शेषनाग की तरह सहस्त्र फन काढ़कर खड़ी होती हैं, और वह पतित से पतित राक्षस बन जाता है। जब मणिपुर में चेतना पहुँचती है तो प्रकाश का अनुभव होने लगता है।

जब तक साधक की चेतना मणिपुर चक्र में नहीं पहुँचती, तब तक यह कहना कठिन है कि वह किस मार्ग से जा रहा है। उसका अंधकार कृष्णमार्ग का है, या स्वाधिष्ठान में चेतना के रुकने से उत्पन्न – यह कहा नहीं जा सकता। यह तो उसका गुरु ही बतला सकता है, जिसके निकट वह साधना कर रहा है।

प्रत्येक वस्तु के प्रकाश में कुछ-न-कुछ अंतर होता है। बिजली का प्रकाश चन्द्रमा के प्रकाश से भिन्न है, और अग्नि का सूर्य से। अग्नि के प्रकाश में लालिमा होती है। ध्यान की अवस्था में यदि लालिमा दिखाई पड़े तो समझना चाहिये कि मणिपुर का उदय हो रहा है। अध्यात्म में लालिमा का अर्थ होता है शक्ति का ठीक जगह पर उदय होना, इसीलिये सन्तों ने उस प्रकाश को देखकर कहा – 'लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल ...।'

इस मंत्र में अग्नि से अनुरोध किया गया है कि वे पथ की बाधाओं से साधक की रक्षा करें, ताकि उसकी चेतना सुषुम्ना के मार्ग से होकर सहस्त्रार में प्रतिस्थापित हो। साधना के मार्ग में अनेक बाधक-तत्त्व हैं। महर्षि पतंजलि ने इसे अंतराय कहा है, और सन्तों ने पाप। ये सैकड़ों हैं। साधकों को अनुभव हुआ होगा कि ध्यान की प्रारंभिक अवस्था में आलस्य, निद्रा, जम्हाई, खुजली, सिर का घूमना, शरीर-दोष, जैसे शौच का समय पर न होना, वायु का प्रकोप, आदि विक्षेप होते हैं। यदि कोई साधना के क्रम में इन विघ्नों का हटाने के पीछे लग जाय, तो शायद सारी जिन्दगी समाप्त हो जाय, और विघ्न

भी न हटे, पर जब ध्यान में लालिमा का उदय होता है, तो सारे विघ्न स्वयं समाप्त हो जाते हैं। लालिमा जाग्रत होने तक जितना भी परिश्रम साधक कर सकें, करें।

यह कहकर अग्निदेव को बार-बार नमस्कार किया गया है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥



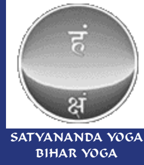


स्वामी सत्यानन्द सरस्वती का जन्म उत्तर प्रदेश के अल्मोड़ा ग्राम (उत्तरांचल) में सन् 1923 की मार्गशीर्ष पूर्णिमा को हुआ। उनमें बाल्यावस्था से ही आध्यात्मिक जीवन के प्रति झुकाव था और विलक्षण प्रतिभाएँ परिलक्षित होती थीं। 18 वर्ष की अवस्था में उन्होंने गुरु की खोज में घर छोड़ दिया। 1943 में उन्हें ऋषिकेश में अपने गुरु स्वामी शिवानन्द के दर्शन हुए। 12 सितम्बर 1947 को गुरु ने उन्हें परमहंस संन्यास में दीक्षित किया। वे 12 वर्ष गुरु की सेवा में रहे और आध्यात्मिक जीवन के हर आयाम में दक्षता प्राप्त की। तत्पश्चात् उन्होंने परिव्राजक संन्यासी के रूप में आठ वर्षों तक सम्पूर्ण भारत, अफगानिस्तान, बर्मा, नेपाल एवं श्रीलंका का भ्रमण किया। इस अवधि का उपयोग उन्होंने यौगिक तकनीकों को प्रतिपादित एवं परिष्कृत करने में किया, ताकि मानवता को कष्टों से त्राण मिल सके।

योग की प्राचीन पद्धति को आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने की आवश्यकता का अनुभव होने पर उन्होंने 1956 में अन्तर्राष्ट्रीय योग मित्र मण्डल एवं 1963 में बिहार योग विद्यालय की स्थापना की। अगले 20 वर्षों तक विश्व भ्रमण करते हुए उन्होंने योग की पताका विश्व के कोने-कोने में फहरा दी और बिहार योग विद्यालय को योग की एक अग्रगण्य संस्था के रूप में ख्याति दिलायी। उन्होंने योग, तंत्र एवं आध्यात्मिक जीवन पर अस्सी से अधिक ग्रन्थों का प्रणयन किया।

'सत्यानन्द योग' एक ऐसी परम्परा बन गयी, जिसमें शास्त्रीय और अनुभवात्मक ज्ञान तथा आधुनिक दृष्टिकोण का सुन्दर समन्वय है। ग्राम्य-विकास की भावना से 1984 में उन्होंने दातव्य संस्था 'शिवानन्द मठ' की एवं योग पर वैज्ञानिक शोध की दृष्टि से 'योग शोध संस्थान' की स्थापना की। सन् 1988 में उपलब्धियों के शिखर पर पहुँचकर उन्होंने सबकुछ त्याग दिया और क्षेत्र संन्यास लेकर परमहंस संन्यासी की जीवन पद्धति अपना ली। सन् 1989 में उन्हें रिखिया आने का दैवी आदेश हुआ, यहाँ उन्होंने एकान्तवास करते हुए उच्च वैदिक साधनाएँ कीं। सन् 1991 में अपने पड़ोसियों को सुविधाएँ उपलब्ध कराने का आदेश मिलने पर उन्होंने आश्रम को उस क्षेत्र के अभावग्रस्त ग्रामीणों की सहायता करने की अनुमति दी। सन् 1995 में उन्होंने वैश्विक सुख, शान्ति एवं समृद्धि का संकल्प लेकर बारह वर्षीय राजसूय यज्ञ आरम्भ किया और सन् 2007 में 'सेवा, प्रेम और दान' को अपनी मुख्य गतिविधि बनाने का आदेश देकर रिखियापीठ की स्थापना की घोषणा की।

स्वामी सत्यानन्द 5 दिसम्बर 2009 की मध्यरात्रि में अपने शिष्यों की उपस्थिति में महासमाधि में लीन हो गये।



SATYANANDA YOGA
BIHAR YOGA

उपनिषद् भारतीय विचार-परम्परा का सर्वश्रेष्ठ रत्न और चिंतन की पराकाष्ठा मानी जाती है। परम सत्य की खोज में मनुष्य की बुद्धि ने आजतक जितनी भी उड़ानें भरीं, उपनिषद् उनकी चरम सीमा है। इस क्रम में शुक्ल यजुर्वेद, काण्वशाखीय संहिता का चालीसवाँ अध्याय, ईशावास्योपनिषद् सबसे पहली उपनिषद् मानी जाती है।

इस गहन, विद्वत्तापूर्ण उपनिषद्-भाष्य में श्री स्वामी सत्यानन्द जी ने ईशावास्योपनिषद् में निहित वेदान्तिक सत्यों को यौगिक विचारधारा और अपनी व्यक्तिगत साधना के अनुभवों के परिप्रेक्ष्य में बड़े सरस और सुन्दर ढंग से उजागर किया है। इन मंत्रों की सुबोध, सारगर्भित व्याख्या पाठक को अनायास ही उस ऊँची आध्यात्मिक उड़ान पर ले जाती है, जो उपनिषदों का मूल प्रयोजन रहा है।



ISBN :978-93-81620-70-0